ISSN 2349 - 1906

साहित्य यात्रा

वर्ष 1 अंक 4 जनवरी-मार्च 2015

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

डॉ. नरेन्द्र कोहली पर विशेष

संपादक
डॉ. कलानाथ मिश्र

डॉ. नरेन्द्र कोहली के साथ बातचीत करते हुए डॉ. कलानाथ मिश्र

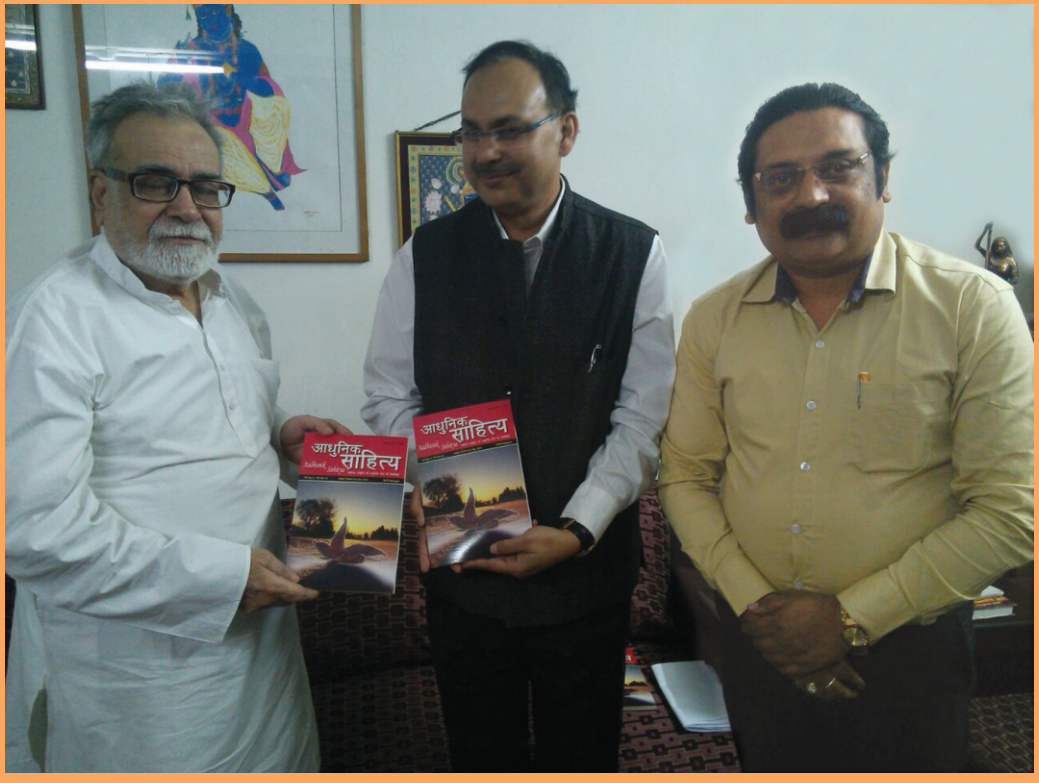

डॉ. नरेन्द्र कोहली एवं डॉ. कलानाथ मिश्र को आधुनिक साहित्य की प्रति भेंट करते हुए संपादक आशीष कंधवे

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक

डॉ० कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-1 अंक-4 जनवरी-मार्च 2015

परामर्शी

डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित
डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव
डॉ० शोभाकांत मिश्र
डॉ० रामशोभित प्रसाद सिंह
डॉ० संजीव मिश्र

सम्पादकीय सलाहकार
श्री आशीष कंधवे

सहायक संपादक
डॉ० रवीन्द्र पाठक

व्यवस्थापकीय सहयोग
श्री अमित मिश्र

संपादक
डॉ० कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक हैं।

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा साहित्य यात्रा की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com

मूल्य : ₹ 45

शुल्क दर :	एक वर्ष (4 अंक)	₹ 300
	तीन वर्ष (12 अंक) (डाक खर्च सहित)	₹ 750
	संस्थागत मूल्य (3 वर्ष)	₹ 1100
	आजीवन सदस्यता	₹ 11,000
	विदेश के लिए	60 डॉलर (3 वर्ष)

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ० कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा आभा पब्लिसिटी, 163, देशबंधु गुप्त मार्केट, करोलबाग, नई दिल्ली से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ० कलानाथ मिश्र।

अनुक्रम

संपादकीय
गीता पर उपन्यास 7–9

साक्षात्कार
नरेंद्र कोहली के साथ डॉ. कलानाथ मिश्र की बातचीत 10–25

संस्मरण
हरीश नवल
दि ग्रेट नरेन्द्र कोहली 26–30

मंथन
प्रेम जनमेजय
महासमर का प्रत्यक्ष-भक्ति उपन्यासों का आरंम्भ 31–34

प्रसंग
नरेश शांडिल्य
नरेंद्र कोहली: जैसे मैंने जाना 35–37

विश्लेषण
सुभाष चंदर
व्यंग्य उपन्यासों के क्षेत्र के सन्नाटे को तोड़ने की सार्थक कोशिश 38–43

आलेख
युजीनिया वानिना
नरेन्द्र कोहली का पौराणिक आधुनिकतावाद 44–57

आलेख
डॉ० किरण निर्वाल
डॉ. नरेन्द्र कोहली के उपन्यास 'महासमर' में श्रीकृष्ण :
मानव से महामानव की ओर 58–63

विमर्श
सतीश पांडेय
नरेन्द्र कोहली का प्रदेय 64-68

दृष्टि
सी. भास्कर राव
समकालीन हिन्दी व्यंग्य के पुरोधा 69-73

चिंतन
सुधा ओम ढींगरा
डॉ० नरेन्द्र कोहली : मेरी नज़र से... 74-75

आलेख
रवीन्द्र पाठक
नरेन्द्र कोहली के व्यंग्य 76-84

संस्मरण
डॉ० कविता सुरभि
अहसास - मेरा शक्ति स्रोत 85-92

आलेख
सुस्मित सौरभ
नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में मिथक 93-96

✍ डॉ० कलानाथ मिश्र

गीता पर उपन्यास

विगत दो दिसम्बर 2014 अर्थात् मार्ग शीर्ष शुक्ल एकादशी के दिन गीता के स्मरण और महिमागान का दिन रहा। इस दिन चहुँओर गीता जयन्ती की अनुगूँज रही। कहा जाता है कि यह श्रीमद्भगवत् गीता का पाँच हजार एक सौ इक्यानवीं जयन्ती है। निस्संदेह भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व गीता के जीवन दर्शन से प्रभावित रहा है। गीता का कर्मवाद, कर्म-फल सिद्धांत से आज की पीढ़ी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। गीता ने युद्ध के झंझावातों के बीच से शांति का संदेश प्रसारित किया, मृत्यु और विध्वंस के बीच से जीवन का संदेश दिया, घोर आशंकाओं और चिंताओं के मध्य से व्यर्थ की चिंता से मुक्ति पाने की ताबीज दी और रणभूमि में योद्धाओं की बलि के बीच आत्मा के अमरत्व का सिद्धांत सिखाया। महान ग्रंथ गीता ने मनुष्य को तटस्थ भाव से, निर्भय होकर सुख-दुःख, हानि-लाभ, हार-जीत और जीवन-मृत्यु के संघर्षों के बीच समभाव से जीवन जीने की कला का ज्ञान दिया।

यह एक सुखद संयोग ही है कि राम कथा, महाभारत जैसे पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर **'अभ्युदय'** और **'महासमर'** जैसे कई उपन्यास कृतियों के सर्जक यशस्वी साहित्यकार आदरणीय नरेन्द्र कोहलीजी महान ग्रंथ गीता को आधार बनाकर उपन्यास लिखने की योजना बना रहे हैं। मुझे प्रसन्नता इस बात की है कि मन में चल रही अपनी इस अनूठी योजना के बारे में उन्होंने सर्वप्रथम **'साहित्य यात्रा'** को ही बताया। कोहलीजी पौराणिक कथाओं से बीज रूप में कथा-प्रसंग लेकर उसे अपनी विलक्षण औपन्यासिक दृष्टि, कल्पनाशीलता, युक्तियुक्त विवेचन-विश्लेषण क्षमता, सूक्ष्म तर्कबुद्धि के साथ आधुनिक सामाजिक संदर्भों में चित्रित करने वाले विशिष्ट रचनाकार हैं। पौराणिक घटनाओं और पात्रों को अपने उपन्यासों के माध्यम से लोकजीवन की समस्याओं, उनकी सुखदुखात्मक अनुभूति एवं आधुनिक जीवन के यथार्थ से जोड़ देना उनकी औपन्यासिक कला की विशेषता है। निश्चय ही गीता जैसे ग्रंथ के महान उपदेशों को औपन्यासिक स्वरूप में पिरोना एक कठिन कार्य है। पात्र योजना, संवाद शैली, घटनाक्रम आदि का तानाबाना बुनकर उसे औपन्यासिक प्रभाव से संपृक्त कर देना कोहलीजी जैसे सिद्धस्त रचनाकारों के लिए ही संभव है। आशा है कि अपने औपन्यासिक स्वरूप में गीता आधुनिक पीढ़ी को नए सिरे से जीवन जीने के

अद्‌भुत दर्शन का ज्ञान दे सकेगा। हमें इस उपन्यास की प्रतीक्षा रहेगी। कोहलीजी ने बातचीत के क्रम में कहा था कि 'मैं जानता हूँ, आपको जो मैं आज कहने जा रहा हूँ उसके बाद मुझपर प्रकाशकों के दबाव बढ़ेंगे, समस्याएँ खड़ी होंगी, फिर भी आज मैं आपको अपनी योजना के बारे में बता ही देता हूँ।'

आगामी छः जनवरी को आदरणीय कोहलीजी का जन्म दिवस है और इस अवसर पर साहित्य यात्रा का यह अंक मैंने उन्हीं पर केन्द्रित किया है। अपनी रचनाशीलता से जो व्यक्ति साहित्य और समाज को श्रेयस्कार बनाने में निरंतर क्रियाशील रहा है, एक साधक की भाँति जिसने अपनी लेखनी से सतत समाज को कुछ देता रहा है उसकी कीर्ति और अवदानों से पाठकों को अवगत कराना जरूरी है। मैं मानता हूँ कि केवल हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं के पाठक भी कोहलीजी को पढ़ते रहे हैं, उन्हें जानते हैं। मुझे यह भी अनुमान है कि उनके जन्मदिन के अवसर पर इस तरह के कई प्रयास दिल्ली सहित देश के कई स्थानों पर हो रहे होंगे। किन्तु साहित्य यात्रा का यह लघुप्रयास भी कोहलीजी की रचनाशीलता के प्रति हिन्दी पाठकों की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करने का एक माध्यम है। यहाँ मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि जब हम श्रेष्ठ रचनाकारों को स्मरण करते हुए कुछ विशेष करते हैं तो हमारा उद्‌देश्य उनके अवदानों से पाठकों को अवगत कराना तो होता ही है, ऐसे महान रचनाकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को स्मरण कर उनसे जुड़कर स्वयं गर्व का अनुभव भी करना होता है। इस अंक के लिए मैंने पत्र लिखकर तथा फोन से संपर्क साध कर कई रचनाकारों से विनम्रता पूर्वक अनुरोध किया था कि वे कोहलीजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर अपनी रचनाएँ मुझे दें। मैं उन रचनाकारों के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने अपना रचनात्मक सहयोग देकर इस अंक की गरिमा बढ़ाई। निश्चय ही विद्वान रचनाकारों का सुचिंतित आलेख ही साहित्य के इस यात्रा को नई राह, नई ऊँचाई प्रदान करती जा रही है। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि कोहलीजी अपनी विभिन्न व्यस्तताओं के बाद भी मुझसे मिलने का समय निकाल लिया करते हैं। मैं जब उनसे साक्षात्कार हेतु मिलने गया तो उनकी आत्मीयता देखकर अभिभूत हो गया। अत्यंत ही निर्मल भाव से वे घंटों मुझसे बातचीत करते रहे और मेरे प्रश्नों का विस्तार पूर्वक, खुले मन से, बिना किसी लाग-लपेट के उत्तर दिया। वैसे भी वे अपनी बेबाकीपन के लिए जाने जाते हैं।

पटना में कई साहित्यिक गतिविधियाँ समय-समय पर होती रहती हैं। उनमें से एक की मैं यहाँ चर्चा करना अनिवार्य समझता हूँ। विगत 21-23 नवम्बर को पटना के इन्दिरा गाँधी तारामंडल के भव्य वातानुकूलित सभागार में कला संस्कृति युवा विभाग, बिहार एवं बिहार संगीत नाटक अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में **भारतीय कविता समारोह** का आयोजन किया गया। आयोजन के संयोजक डॉ० रामवचन रायजी थे। इस आयोजन में अशोक बाजपेयी, पुष्पा भारती, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, केदारनाथ सिंह, प्रयाग शुक्ल, नचिकेता, आदि हिन्दी कवियों के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों ने अपनी-अपनी कविताओं का पाठ किया। आदरणीय विश्वनाथ प्रसाद तिवारीजी की कविता 'सूटकेस' और 'जगह' ने खास तौर से प्रभावित किया। एक बात जो विगत कुछ दिनों से चर्चा में है और जिसका उल्लेख रामवचनजी ने संयोजक के रूप में बोलते हुए इस मंच से खास तौर से किया वह यह है कि आजकल 'कविसम्मेलन'

नाम हास्य कवि सम्मेलन और चुटकुलेबाजी के रूप में प्रचलित हो गया है। ऐसे में गम्भीर कविताओं के पाठ का आयोजन कविसम्मेलन के नाम से न कर कविता समारोह के नाम से किया गया। हास्य कवि सम्मेलन का भी अपना स्थान है। व्यंग्य कविताओं में तो समाज की विडम्बनाओं पर चुटीले अंदाज में प्रहार करने की शक्ति निहित होती है। सफल व्यंग्य कविता हमारी दुखती रगों को छू लेती है। किन्तु सच ही आजकल कविसम्मेलनों में कुछ लोग चुटकुलेबाजी से ज्यादा और कुछ नहीं करते। नव सामंतों के बीच हँसी की फुलझड़ी उड़ाने के लिए हल्की तुकबंदी के अलावा उन कविताओं या चुटकुलों का कोई स्थायी महत्व नहीं होता। भारतीय कविता समारोह का उद्देश्य कठिन समय में सृजनात्मक अनुभव को परस्पर साझा करना एवं सकारात्मक संवाद के जरिए सामाजिक समरसता एवं लोकतांत्रिक मूल्यों, मर्यादाओं को समृद्ध और विकसित करना था। ऐसे में कविता समारोह का आयोजन अपनी सीमाओं के साथ भी सुखद रहा। अखिल भारतीय कविता समारोह के समापन सत्र में अपनी बात रखती हुई ख्यातिलब्ध कथा लेखिका उषाकिरण खां ने कहा कि अब हम लोग कथा साहित्य पर इस तरह का भव्य समारोह करने की योजना बना रहे हैं। निश्चय ही यह अत्यंत ही सराहनीय सोच है। **कहानी जैसी सशक्त विधा पर अखिल भारतीय कथा समारोह के आयोजन का विचार स्वागत योग्य है।**

मेरी इच्छा रहती है कि पत्रिका में यथासंभव हिन्दी के श्रेष्ठ रचनाकारों की रचनाएँ तो प्रकाशित हो ही, उनपर चर्चा भी हो। उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर गम्भीर और सुचिंतित आलेख प्रकाशित हों। किन्तु नाना कारणों और सीमाओं के कारण ऐसा करना सदैव सम्भव नहीं हो पाता है। आदरणीय रामदरश मिश्रजी गंभीर चिंतक एवं मनीषी साहित्यकार हैं। अत्यंत सरल, स्नेही व्यक्ति हैं। इस पत्रिका से जुड़े रहते हैं और समय-समय पर मेरा उत्साहवर्धन एवं मार्गदर्शन भी करते रहते हैं। 15 अगस्त को उनका जन्म दिन रहता है। मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ। मेरी कोशिश थी कि उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक सारगर्भित निबंध प्रकाशित किया जाए। किन्तु कतिपय कारण से ऐसा हो नहीं सका। भविष्य में उनके कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर कुछ आलेख प्रकाशित करने की मेरी योजना भी है। अतः इस आशय का अनुरोध भी रचनाकारों से विनम्रता पूर्वक करता हूँ।

मेरे शिष्य अमित एवं सीमा ने आदरणीय नरेन्द्र कोहलीजी एवं मेरी बातचीत की रिकार्डिंग को लिपिबद्ध किया है। यह एक श्रमसाध्य कार्य है। उन्हें मेरा आशीर्वाद।

अंत में यह कि कोहलीजी के व्यक्तित्व एवं उनकी रचनात्मक उपलब्धियों को किसी एक पुस्तक अथवा पत्रिका के किसी एक अंक में समाहित कर पाना कठिन ही नहीं, असंभव है। फिर भी जो कुछ हो सका आपके सामने है। यदि यह वामन प्रयास पाठकों को थोड़ा भी संतोष दे पाता है तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

10 दिसम्बर, 2014
पटना

संपादक

नरेन्द्र कोहली के साथ डॉ. कलानाथ मिश्र की बातचीत

नरेंद्र कोहली हिंदी के मूर्द्धन्य रचनाकार हैं। उन्होंने अपनी अनूठी शैली एवं नवीन दृष्टिकोण से हिंदी के गद्य साहित्य को एक नया आयाम दिया है। इन्होंने एक तरफ भारत के पौराणिक आख्यानों को नवीन कलेवर एवं अद्यतन प्रासंगिकता के साथ प्रस्तुत कर पौराणिक उपन्यासों के क्षेत्र में अपरिमित ख्याति अर्जित की तो दूसरी ओर व्यंग्य रचनाओं के क्षेत्र में कई प्रकार की नवीन शैलियों और फंतासियों का प्रयोग कर नए कीर्तिमान स्थापित किए। कोहलीजी की रचनाएँ जितनी गहन और गरिमामय हैं उनका व्यक्तित्व भी उतना ही गंभीर और गौरवपूर्ण है। दिल्ली में उनके आवास पर मैं मिलने गया था। मेरे साथ आधुनिक साहित्य के संपादक आशीष कंधवे भी थे। कोहली जी की रचनाओं एवं व्यक्तित्व से संबंधित कई प्रश्न मेरे मन में वर्षों से घर किए था। मेरे मन में कई प्रकार के संशयों ने डेरा डाल रखा था। कैसे आरंभ करूँ? कहाँ से शुरू करूँ? यदि कोई बात कोहली जी को ठीक नहीं लगी तो...। उस समय घर में कोहली जी की सहधर्मिणी विदुषी डॉ० मधुरिमा कोहली जी भी उपस्थित थीं। उनका स्नेह युक्त स्मित व्याप्त मुखमंडल मुझे अदृश्य प्रोत्साहन प्रदान कर रहा था। घर के सोफे के लगभग सभी कुर्सियों के चौरे किनारों पर गीता के कई पुस्तक रखे थे। दीवारों पर मान-सम्मान के कई चित्र बैठक को गरिमा प्रदान कर रहे थे। कोहली जी की पुत्रवधु आतिथ्य भाव से कॉफी, उसके साथ ढ़ोकला और नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ टेबल पर परोस गयीं। इस प्रकार समुचित परिवेश का सहज ही निर्माण हो गया। उक्त परिवेश और कोहली जी की आत्मीयता ने मुझे सहज बना दिया। मै उनसे बातचीत करता गया। प्रस्तुत है बातचीत का अंश।

आदरणीय नरेन्द्र कोहली जी, आप राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के ख्यातिलब्ध साहित्यकार हैं। आपके पाठकों और प्रसंशकों के मन में आपके आरम्भिक दिनों को लेकर स्वाभाविक जिज्ञासा रहती है। हम जानना चाहते हैं कि शुरुआती दिनों में साहित्य की ओर आपका रुझान कैसे हुआ? उन दिनों साहित्य के सम्बन्ध में आपकी क्या परिकल्पनाएँ थी?

यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्राय: साक्षात्कारकर्ता द्वारा पूछा जाता है और उनके लिए मेरा एक हीं उत्तर होता है कि किसी व्यक्ति के कहने पर अथवा किसी घटना के घटित

होने या किसी लेखक को पढ़ कर कोई मोड़ मेरे जीवन में आ गया हो और मैंने लिखना शुरू कर दिया हो-ऐसी बात नहीं। मुझे जहाँ तक याद है, बहुत छोटेपन से मुझे लिखने की बड़ी इच्छा थी। अभी तक कुछ सार्थक लिखा गया, न लिखा गया, कुछ पता नहीं। हमारी स्कूलिंग उर्दू में हुई थी और चौथी-पाँचवीं कक्षा तक उर्दू में ही हुई तो मन में यह भावना थी कि 'अफसाना निगार' बनना है। उस समय से लिखने की यह इच्छा बलवती होती गई। आपको पता है कि मैं उन दिनों जमशेदपुर में था और वह इंजीनियरों का शहर है तो वहाँ यह कहना कि मैं इंजीनियर नहीं बनूँगा, वह भी योग्य होते हुए, अच्छे अंक लाते हुए, तो यह एक विचित्र बात होगी। बहुत लोग तो मन में यह भी सोचते थे कि बेवकूफ होंगे, अच्छे अंक नहीं आए होंगे। आप जानते होंगे उन दिनों पटना से 'किशोर' पत्रिका निकलती थी। स्कूल के उन दिनों में मेरी एक रचना छपी थी। पूरे स्कूल के बच्चों के बीच वाद-विवाद प्रतियोगिता हुई थी और उसमें मैं पटना और छपरा गया था। उस पत्रिका के सम्पादक श्यामबदन पाठक थे। उनको मैंने रचनाएँ भेजीं तो उन्होंने छाप दी थी। उस समय धनबाद से एक पत्रिका निकलती थी जिसका नाम था 'आवाज'। उसमें भी मैं छपा था। आरंभिक रचनाओं की मैं बात करूँ तो जब मैं आठवीं में था, स्कूल की पत्रिका में मेरी एक रचना 'हिन्दुस्ताँ जन्नत निगाह' उर्दू में छपी थी। उन दिनों पत्रिका बुद्धयुत कम हीं होती थी।

आपकी इन बातों से एक जिज्ञासा सहज हीं उत्पन्न होती है कि क्या कारण है कि जो लोग उर्दू से हिन्दी में आये, जैसे प्रेमचंद को हीं ले, उन्होंने हिन्दी में बड़ा नाम किया है। अच्छा काम किया। क्या उर्दू जुबान के साथ इसका कोई संबंध है?

नहीं, मैं इस रूप में इसे नहीं देखता। प्रेमचंद की बात तो बहुत सीधी है कि उन्होंने उर्दू में जो लिखा उसे छपना था लाहौर से। लेकिन उससे पहले रचनाएँ काशी में छप जाती थीं। तो ऐसे में लोग लाहौर की प्रतीक्षा करें या काशी में छप जाने दें! दूसरी बात यह हुई कि देश में प्रेमचंद के उर्दू में खास पाठक नहीं थे इसलिए वे हिन्दी में लिखने लगे। यह तो हुई उनकी बात। मेरे साथ बात यह थी कि स्कूलिंग उर्दू में हुई लेकिन मुझे यह जरूर लगता रहा कि सारे उर्दू साहित्य में, जो मैंने पढ़ा था, उसकी सारी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि विदेशी है, भारतीय नहीं। अब कोई परिवर्त्तन आया हो तो मैं कह नहीं सकता। उसमें पहाड़ों के नाम आयेंगे तो 'कोहतूर' आयेगा। नदी भी आएगी तो 'जलिया और सरात' आयेंगी। यहाँ तक कि जब मैं अपने पिता को पत्र लिखता हूँ, तो मुझे उन्हें वालिद साहब लिखना विचित्र लगता था। अतः मुझे कभी ऐसा लगा नहीं कि मेरा तादाम्य उसके साथ हुआ हो। कॉलेज में आकर ही मैंने ढंग से हिन्दी पढ़ी। शुरू में काफी कठिनाइयाँ आई लेकिन धीरे-धीरे मेरी भाषा को एक सरल प्रवाह मिल गया। मेरे मन में यह था कि घर में हम पंजाबी बोलें, पढ़ाई हम उर्दू में करें, नौकरी हम अंग्रेजी में करें, पूजा हम संस्कृत में करें यह ठीक नहीं है। कोई एक भाषा होनी चाहिए जिसमें हम

सबकुछ कर सकें। संस्कृत में पढ़ नहीं पाया। ऐसा संयोग ही नहीं बना पर मुझे लगा कि यह सब काम मैं हिन्दी में कर सकता हूँ। उसमें मैं सब काम बटोर सकता हूँ। पूजा भी कर सकता हूँ, घर में बोल भी सकता हूँ। नौकरी भी कर सकता हूँ। उसमें लिख भी सकता हूँ। समग्र रूप से अपने जीवन के लिए उपयुक्त जो भाषा मुझे लगी वह हिन्दी ही थी। संस्कृत मैं पढ़ सका होता तो शायद संस्कृत में चला जाता लेकिन उसका अवसर ही नहीं आया।

मुझे ज्ञात है कि आप की आरंभिक शिक्षा समेकित बिहार यानी जमशेदपुर में हुई। उन दिनों का कुछ संस्मरण बताइए।.

पहले हमारा स्कूल पटना यूनिवर्सिटी में ही था। स्कूल वाले बोर्ड बने नहीं थे। जब मैं ग्यारहवीं में था तब बिहार शिक्षा बोर्ड बना और जब बिहार यूनिवर्सिटी बनी तो हम लोग बिहार यूनिवर्सिटी में चले गये। बी०ए० तक आते-आते राँची यूनिवर्सिटी में चले गये। इसप्रकार मेरी जितनी भी डिग्रियाँ थीं वे सब अलग-अलग जगहों की थीं।

आप अपने विश्वविद्यालयी सेवा से स्वेच्छा से मुक्त हो गए। इसके पीछे क्या कारण है। आप अपने अध्यापकीय अनुभव के बारे में कुछ कहें।

देखिए, मैं अध्यापन से बिल्कुल रुष्ट नहीं था। लोग कहते हैं कि अगली पीढ़ी के जो विद्यार्थी हैं वे अनुशासित नहीं हैं या अध्यापक का सम्मान नहीं करते लेकिन मेरा जो व्यक्तिगत अनुभव है वह यह है कि विद्यार्थी मुझे बहुत प्यार करते थे। अनुशासन वगैरह तो बहुत छोटी चीज है। आपके सामने जो बच्चे बैठे हैं और उनकी आँखों में जो आपको दिखाई देता है कि जैसे आप भगवान हैं, जो आप कह दें उन्हें लगता है कि वह शास्त्र हो गया। इस रूप में मुझे अध्यापन से कोई शिकायत नहीं। इस कार्य में मैं अपनी इच्छा से गया था। मुझे छिहत्तर प्रतिशत अंक मिले थे विज्ञान में, जो मुझे डॉक्टर, इंजीनियर बनाने के लिए पर्याप्त थे लेकिन मैं हिन्दी प्रशिक्षण में स्वेच्छा से गया। चूँकि मुझे लेखक बनना था इसलिए उससे निकटतम नौकरी हो सकती थी, उसे मैंने चुना। मैंने साहित्यिक संसार में पढ़ाया भी खूब। मैं तो यह कहता हूँ कि मेरा आनन्द का जीवन तब का था जब मेरे विद्यार्थी सामने बैठे होते थे। उन्हें बताने का एक अलग सुख है और लिखने का अलग सुख। एक तो सृजन का आनंद है, दूसरा जो पाठक पढ़कर आपकी प्रशंसा करता है उस प्रशंसा का अपना आनंद है। लेकिन धीरे-धीरे एक ऐसा समय आ गया कि लेखन का काम अत्यधिक बढ़ता गया। पंद्रह दिनों की छुट्टी होती थी तो उसमें लिखने के प्रवाह में जब आते थे तब तक कॉलेज खुल जाता था और दिल्ली में तो कॉलेज में आने-जाने में बहुत समय लगता था। आते-आते सारी ऊर्जा समाप्त हो जाती थी। इस प्रकार एक तो यह था कि कॉलेज धकेल रहा था और दूसरी बात यह थी कि लिख रहा हूँ मैं महाभारत और पढ़ाना है मुझे प्रसाद। ऐसे में दिमाग दो जगह बँट जाता था। उसके कारण भी कष्ट होता था। जो मैं लिख रहा हूँ वह पढ़ा नहीं सकता। इस तरह कॉलेज मुझे धकेल रहा था और लेखन अपनी ओर खींच रहा था। क्रमशः मेरे परिवार की स्थिति कुछ ऐसी हो गई

कि मेरी नौकरी की इनको बहुत आवश्यकता नहीं रही। आर्थिक दृष्टि से भी घर बन गया था, बच्चे बढ़ चुके थे। पत्नी भी नौकरी में थी, पढ़ाती थी। फिर पेंशन इस्कीम भी तब तक आ गई थी। रॉयल्टी भी मिलनी शुरू हो गई थी। जबकि कई लोगों की शिकायतें हैं कि उन्हें रॉयल्टी नहीं मिलती।

कोहली जी, आपके बारे में यह भी चर्चा है कि आप भारतवर्ष में हिन्दी लेखन के क्षेत्र में सबसे अधिक रॉयल्टी पाने वाले रचनाकार हैं?

देखिए, कुछ समय पहले एक प्रकार का ऐसा सर्वे हुआ था जिसमें इस तरह की बात कही गई थी। वह दस वर्ष पहले की बात थी, पर अब मुझे इसकी जानकारी नहीं। हाँ, कुछ लोग मंच पर इस तरह की बात कह देते हैं और मैं भी चुप रहकर स्वीकार कर लेता हूँ। यह सत्य है या झूठ मैं नहीं जानता हूँ। रामकथा का जब पहला खण्ड **'दीक्षा'** आया। एक छोटे प्रकाशक थे श्रीकृष्ण, पराग प्रकाशन उन्होंने खोला था। यह मैं 1975-76 की बात कर रहा हूँ। तो पहले खण्ड की रॉयल्टी पच्चीस हजार रुपये का चेक लेकर वे आ गये। उन दिनों के लिए यह रकम कम नहीं थी और मुझे तक लगा कि नौकरी छोड़कर भी मैं लेखन कर सकता हूँ। लोगों ने कहा, 'तुम पछताओगे।' यहाँ तक कि डॉ० नागेन्द्र ने भी मेरे घर आकर कहा कि दो वर्षों में तुम पछताओगे। मूल बात यह थी कि आर्थिक दृष्टि से मुझे कठिनाई होगी। लेकिन मुझे तो लगता है कि मैं उसके बाद से सम्पन्न-से-सम्पन्न ही होता गया हूँ। नौकरी छोड़ने के बाद यह सुविधा हुई कि कहीं नहीं जाना है। सुबह उठे और लेखन में लग गये।

आपने रामकथा से आरंभ कर पौराणिक कथाओं पर आधारित कई उपन्यासों का सृजन किया और निसंदेह इसके बाद आपने काफी ख्याति और यश अर्जित की। हम यह जानना चाहते हैं कि अध्यात्म की ओर आपका रूझान कैसे हुआ?

देखिए, इससे जुड़े दो-चार प्रश्न हैं जो कई रूपों में सामने आते हैं। कुछ जो मिथकीय कहते हैं, पैराणिक कहते हैं। कुछ लोग धार्मिक कहते हैं, फिर आध्यात्मिक कहते हैं। मैं यह मानता हूँ कि आपका जो मानसिक संसार होता है वह आपको स्वयं पूरे तौर से मालूम नहीं होता है। जीवन में क्रमशः वह खुलता है। मेरी रुचि तो इन कथाओं की ओर पहले से थी और राम कथाएँ लिखने से पहले मैंने उनके बारे में बहुत कुछ पढ़ा भी था तथा उनका उद्धरण भी देता रहा हूँ। मैंने एक कथा लिखी जिसमें पत्नी के रोष की तुलना सती और महादेव से की थी। जब सती कह रही है कि मैं मायके जाऊँगी और महादेव कह रहें हैं कि नहीं जाना चाहिए तुम्हें! वैसे तुम्हारी मर्जी। यह प्रसंग मैंने दिया था उसमें। मेरे एक परम मित्र थे, दिल्ली के मनहर चौहान। वे एक पत्रिका के सम्पादक थे और उन्होंने कहा कि ये क्या पौराणिक चीजें डाल दिये! ये शिव-पार्वती लिखने लगे तुम। वे हमसे वरिष्ठ थे। उन्होंने कहा मैंने सुन लिया। मुझसे अधिक अनुभवी थे। उन्हें यह नहीं मालूम था कि मेरा मन इन चीजों में बहुत रस लेता है। मैंने मग्न होकर आनंद उठाता

हुआ 'दीक्षा' लिखी। वह न तो धार्मिक है, न आध्यात्मिक। 1971 में जब युद्ध हुआ बंगला देश का, और यह सूचना आयी कि बंगला देश के बुद्धिजीवियों को सामूहिक रूप से मारने के षड्यंत्र किये गये हैं तो मुझे पुराण याद आए। प्रकृति ने मेरा मस्तिष्क कैसा बनाया है कि मैं पुराण पढ़ता हूँ तो उसमें मुझे समाचार पत्र दिखाई देता है और समाचार पत्र पढ़ता हूँ तो उसमें मुझे पुराण नजर आते हैं। ऐसा कुछ नहीं है कि वे अलग-अलग हैं। अत: बुद्धिजीवियों को जब मारा गया बंगला देश में तो मेरे मन में यह बात आयी कि राक्षस ऋषियों को क्यों सताते थे। ऋषि बुद्धिजीवी हैं। राक्षस वह है जिसकी प्रवृति राक्षसी है। सवाल सामने आता है कि वे बुद्धिजीवियों को क्यों मारते हैं? क्योंकि वे नहीं चाहते कि बुद्धिजीवी हों। यही स्थिति बंगला देश में भी थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धिजीवी जहाँ भी होगा वह आतंकियों का सबसे पहला शत्रु होगा। राक्षसों ने भी ऋषियों को इसी लिए खाया और दूसरा कोई कारण नहीं था तो कथ्य यहाँ जुड़ गया। उसी तरह से हमारी दो महाशक्तियाँ रावण और इन्द्र जहाँ सबसे ज्यादा धन है वहाँ विद्यमान हैं। ऐसी बहुत सारी समानताएँ मुझे दिखाई देती है तो इस तरह से मुझे लगता है कि यह कोई पुरानी कहानी नहीं है मेरे आस-पास की कहानी है। इस जीवन की कहानियाँ हैं। ठीक है, उसमें राजा नहीं है, शासक है, तो शासकों के, मंत्रियों के बेटे सभी तो वही सब अत्याचार करते हैं। संयोग से आपके बिहार में बक्सर के पास ही विश्वमित्र का आश्रम था। उसके पास ही एक घटना हुई जहाँ बहुत धनी और शक्तिशाली जमींदारों के बेटों ने केवटों के गाँव में जाकर शराब पीकर दंगा-फसाद किया और उनसे कहा कि अपनी बहू-बेटियों को हमारे हवाले कर दो, और यह भी कहा कि ये हैं किस लिए? हमारे ही सुख के लिए तो हैं। जब इसका विरोध किया गया तो इन्होंने उन्हें बाँधकर लोहे के सलाखों से उनके शरीर दाग दिये। हालत यह हो गई कि उनके भय के मारे किसी डॉक्टर ने उनका इलाज नहीं किया और थाने में रिपोर्ट भी नहीं लिखी गई। ऐसी घटनाएँ जब आज हो रही है तो तब क्या हुआ होगा? तब एक तरफ तो जनक का राज्य था और दूसरे तरफ दशरथ का। उनके बीच बक्सर में राक्षस या उनको दँगा-फसादी कुछ भी कह लीजिए, उग आये। ये सारी चीजें मुझे उसे वर्त्तमान संदर्भ से जोड़ने को मजबूर कर रही थीं। 'दीक्षा' में आप देखेंगे कि उसमें जो केवट थे, उनके परिवार वालों के साथ सेनापति के बेटे जो दुर्व्यवहार करते हैं, विश्वामित्र ने उनकी रक्षा का वचन लिया और राम ने उनकी रक्षा की। जब सेनापति का बेटा उस तरह का व्यवहार करता है तो सेनापति उसे बचाने के लिए आता है और राम उसको मृत्युदंड देते हैं। लक्ष्मण से अपने ही सेनापति को मारने के लिए कहते हैं। न्याय की भावना जो हमारे मन में है वह कार्यरूप में भी होना चाहिए। उस न्याय के अधीन सेनापति का बेटा भी आ जाता है। क्षत्रिय राजाओं के लिए शास्त्र में कहा गया है कि उसका पहला कर्त्तव्य है दुष्ट दलन। दुष्टों का दलन तो होना ही चाहिए और अगर यह आज नहीं हो रहा था तो यही तो अनीति का जड़ है। इस दृष्टि से मैं कहता हूँ कि कुछ चीजें पुराणों में थीं कुछ मैंने अपनी औपन्यासिक कल्पना से उसमें डाल दी और इसके पीछे तर्क यही है कि ऐसा भी संभव था।

आपने पौराणिक कथाओं को नये संदर्भों में रूपायित किया। पौराणिक कथाओं के साथ यह कितना न्याय संगत है?

मैंने ऐसा किया यह मैं नहीं कह सकता। मैं कह सकता हूँ कि उसने आकार वैसा ही लिया। जैसे मैंने आपसे कहा कि समाचार-पत्रों में भी मुझे पौराणिक कथाएँ दिखती हैं। तात्पर्य यह कि बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से यह सब मुझे दिखाई देता है। और जो दिखा वह मैंने लिखा।

आपने विवेकानंद के जीवन पर 'तोड़ो, कारा तोड़ो' उपन्यास लिखा है जिसके बारे में कहा जाता है कि यह किसी भी भाषा में स्वामी विवेकानंद पर लिखी गई पुस्तकों में से सबसे श्रेष्ठ है। इसकी प्रेरणा आपको कैसे और कहाँ से मिली? क्या भविष्य में ऐसे और जीवनीपरक उपन्यास लिखने की आपकी कोई योजना है?

देखिए, सीधी बात यह है कि मैं आगे की बात सोचना नहीं चाहता क्योंकि मन जो होता है न बड़ा अजीब है। यह आगे की बुनने लगता है तो जो वर्त्तमान लेखन है वह रुक जाता है और नई योजना में आदमी उलझ जाता है। फिर भी कुछ-न-कुल तो दिमाग में चलता ही रहता है। मेरे मन में एक आकांक्षा जो बहुत दिनों से थी वह बड़ी विकट आकांक्षा है। और वह मैं आपको आज पहली बार बता रहा हूँ। जानता हूँ कि इसके बाद प्रकाशक मेरे पीछे पड़ जाएँगे। पढ़ते-पढ़ते मेरे मन में यह विचार आया कि भगवद्गीता उपन्यास के रूप में आये। समस्या यह है कि उसमें कथा नहीं है। केवल दर्शन है, संवाद है। उपन्यास बनाने का जो लक्ष्य होता है वह यह है कि सामान्य आदमी उसे सामान्य रूप से पढ़ सके। मैंने अभिज्ञान लिखा था तो उसमें कर्म सिद्धांत को बिल्कुल इस तरह से लिखा था कि सामान्य आदमी उसे अपनी शब्दावली में उसे समझ जाये। लेकिन गीता को उपन्यास के रूप में लाना मैं समझता हूँ कि बहुत विकट काम है। अब उसमें दो पात्र बात कर रहे हैं बाकी पात्र कहाँ से लाएँगे या घटनाएँ कहाँ से लाएँगे या वे शब्दावली जो उन भावों को उस रूप में व्यक्त कर सकें जिससे लगे कि वे गीता के उपदेश हैं। इस तरह से यह सारी कठिनाइयाँ तो हैं फिर भी मेरे मन में वह बात तो है और मैं उस तरफ थोड़ा प्रयत्नशील भी हूँ। अभी तो आप देख रहे हैं कि घर में चारों तरफ गीता बिखरी है। शाम को मैं अपने परिवार- बेटा-बहू तथा दो पौत्रों के साथ गीता का पाठ करता हूँ। बच्चों को सब समझ में नहीं आता। मैं सब जानता हूँ लेकिन संस्कार देने के हिसाब से यह अच्छा होता है। बीच-बीच में उनके कुछ प्रश्न भी होते हैं। वे प्रश्न जैसे भी हों, पर इससे मुझे यह लाभ है कि क्या पूछा जा सकता है-इसकी जानकारी मिलती है। एक प्रकार से संवाद बन रहा है। उसमें से बहुत सारी चीजें ऐसी हैं जो मैं इन लोगों को तो समझा देता हूँ पर खुद मुझे समझ में पूरी तरह से नहीं आयीं। कर्म-संन्यास-या कर्म-योग क्या है उसे हम अपनी वायवीयता में तो दूसरे को समझा सकते हैं पर मैं खुद उसे समझ रहा हूँ या नहीं-इसी दृष्टि में मेरा मन डूबा हुआ है। मैं थोड़ा बहुत काम कर भी रहा हूँ और आगे क्या होता है वह रामजी की इच्छा।

अगर यह बन जाता है तो बहुत बड़ी चीज होगी साहित्य के लिए।

उत्तर- हाँ, यह मैं भी मानता हूँ।

आपके पहले भी कई लोगों ने पौराणिक कथाओं को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है जिसमें कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का नाम अग्रगण्य है। आप उनसे कितना प्रभावित हैं तथा आपके पौराणिक उपन्यास किस रूप में उनसे भिन्न कहे जा सकते हैं?

मैं उससे प्रभावित हुआ हूँ, ऐसा नहीं कहूँगा पर मैं बहुत रुचि से बहुत मन लगाकर उनको पढ़ा और तब पढ़ा जब उसपर मेरा लिखने का कोई विचार नहीं था और मुझे बहुत अच्छा लगा। मेरे मन को भाता है वह सबकुछ। पर जब मैं वसुदेव लिख रहा था तो मेरे मन में आया कि मैं कृष्णावतार दोबारा पढ़ूँ। अब जब मेरा मन बहुत परिपक्व हो गया है और मैंने उसपर विचार किया तो मुझे उसमें बहुत सारी चीजें कच्ची लगीं जो उस समय नहीं लगी थीं। अब मुझे लगा कि उन्हें यह सोचना चाहिए था, वह सोचना चाहिए था। पता नहीं भगवान ने कैसे बनाया है मुझे या अहंकारी मन है मेरा, मैं नहीं जानता। पर उसमें भी दोष निकालता हूँ। अब कोई कहे कि भाई मुंशी में दोष? तो मैं कहूँगा, हाँ। अब एक प्रसंग ऐसा है कि जब वसुदेव और देवकी को बंदी गया है और उनके पास एक धाई आती है और उनकी सेवा करती है तथा वह चली भी जाती है अपने गाँव। नीचे एक सिपाही है वह भी अपने घर चला जाता है। ऐसी स्थिति में वे तो स्वतंत्र हो गये। मेरा मानना है कि ऐसा पहरा कंस का पहरा नहीं हो सकता। ऐसी ही बहुत सारी चीजें हैं जिसमें से एक का मैंने उदाहरण दिया। इसी तरह शिवाजी सावंत का जो मृत्युंजय है वह बहुत लोकप्रिय है। हिन्दी वालों ने तो बहुत ही सराहा है उसे। मराठी वालों से अधिक रॉयल्टी दी है उसे। उसे भी पहली बार जब मैंने पढ़ा तो लगा कि जादू है उसकी भाषा में। वह तो एक काव्य है जो बहा कर ले जाएगा। लेकिन जब तर्क की दृष्टि से सोचने लगता हूँ तो गड़बड़ी नजर आती है। एक उदाहरण देता हूँ-एक प्रसंग है कि द्रौपदी को (किसी भी कारणवश) कर्ण कहता है कि इसे निर्वस्त्र कर दो, यह वेश्या है। और उस कर्ण को आप महान सिद्ध कर रहे हैं-इसको मेरा मन बिल्कुल भी नहीं मानता। आप उस आदमी को महान सिद्ध कर रहे हैं जो एक स्त्री को इस सीमा तक प्रताड़ित करता है। ऐसी ही चीजें मैंने उन उपन्यासों में भी पाई। जो मेरे हाथ लगा मैंने पढ़ लिया। इस पर रिसर्च नहीं किया अब जैसे दुर्गाभागवत की महाभारत के चरित्रों पर है। मैंने वह भी पढ़ी। एक और मराठी महिला हैं, नाम मैं भूल रहा हूँ, उन्होंने भी महाभारत पर लिखा और पुरस्कार भी मिला साहित्य अकादमी का। पर अगर वे लिखती हैं कि धर्मराज विदुर कहाँ था? धर्मराज के जन्म के समय कुंती कहाँ थी? और वे कह रही हैं कि वह विदुर का बेटा था क्योंकि दोनों धर्म की तरफ उन्मुख है। अब ऐसे जितने भी धर्म की ओर उन्मुख हों सब विदुर के बेटे ही कहे जाएँ-यह तर्क तो मैं नहीं मान सकता। एक बात और कि स्वतंत्रता के साठ वर्षों में हमारे यहाँ ऐसा परिवेश बनाया गया है साहित्य या

चिंतन का कि जो हमारी परम्परा को जितना काटेगा वह उतना ही महान इंटेलेक्चुयल कहलाएगा। इसीलिए लोग इस पर लगे हुए हैं कि परंपरागत मान्यताओं को काटो, उसमें दोष निकालो।

पौराणिकता के विषय में आपका क्या सोच है? पौराणिकता का आधार आप किसे मानते हैं?

देखिए पौराणिक मतलब तो साफ है, पुराणों पर आधृत। वैसे पुराण एक विधा भी है। काव्यशास्त्र में उसके बहुत सारे लक्षण हैं, जैसे महाकाव्य के हैं। कुछ लोगों का मानना हैं कि जो पुराना इतिहास है वह पुराण है। जो सबसे बड़ी बात लेखक के रूप में या कथाकार के रूप में मुझे लगती है वह यह है कि पुराण एक ऐसी विधा है जिसमें देशकाल की सीमा नहीं है। पुराण एक विराट सृष्टि जैसा है। घटना किसी एक ग्रह पर घटित हो रही है, ऐसा भी नहीं ह, किसी एक काल में भी घटित नहीं हो रहा है, वसुओं ने क्या किया जिनके कारण उनको पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा? सात वसु मार दिये गए केवल आठवें भीष्म बच गए इत्यादि, इसका कारण पूछो। गंगा का शान्तनु से विवाह हुआ इसका कारण पूछो, यहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध है। उस दृष्टि से पुराण एक बहुत ही विराट रचना है।

हमारा आज का पाठक कहता है कि जो कुछ मैं देखता हूँ, जिसका अनुभव मैं कर सकता हूँ, मुझे केवल वही दिखलाया जाये। यह लेखन शैली भी मानी जाती है और यह भी मान सकते है कि उस समय जो लिख रहे थे वे वेद व्यास थे जो इन सारी घटनाओं के साक्षी थे, जिनके साक्षी हम नहीं हो सकते, हमारी सीमाएँ हैं। हम अपनी सीमाओं के भीतर ही इस कथा को देखते एवं लिखते हैं। आज की सारी विधाओं की तुलना में अगर देखें तो एक वाक्य मैं यही कहूँगा कि विराटता की दृष्टि से वे इनसे बहुत आगे थे।

एक पूरक प्रश्न इस संदर्भ में मैं करना चाहूँगा कि आपने जब पौराणिक कथाओं को लेकर लिखना आरंभ किया वह समय वाम या फिर साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित था। वाम विचारधारा परम्परा, संस्कृति और पौराणिक चीजों को खारिज करती है। ऐसे में आपने पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर लिखना शुरू किया। आपके मन में बहुत बड़ा अंतर्विरोध और संघर्ष रहा होगा?

सही बात यह है कि लिखने के पूर्व यह सब नहीं सोचा मैंने कि इनका विरोध होगा या लोगों को पसंद नहीं आएगा। वस्तुतः मेरे मन में यह जनमा, मैंने लिखा। सृजन के साथ ऐसा है कि जब प्रसव का समय आता है और माँ कहे, मैं प्रसव नहीं करूँगी तो वह मर जाएगी। लेखक के लिए भी लिखना उसी तरह है, इसलिए मैंने लिखा। लिखने के बाद जब प्रकाशित होकर पुस्तक आयी तो लोगों की प्रतिक्रियाएँ, प्रश्न जब होने लगे तब मेरी समझ में आया कि बड़े प्रतिकूल वातावरण में मैं हूँ। लेकिन उससे क्या? मैं यह लिखना चाहता हूँ और आपको पसंद नहीं आ रहा है तो क्या मैं लिखना बंद कर दूँ? मेरे मन में उसका कोई भय नहीं था। जब मैं मुंबई गया तो धर्मवीर भारती उस समय संपादक

थे धर्मयुग के। मेरी 'दीक्षा' उस समय छप चुकी थी। 'शम्बूक की हत्या' भी छप चुकी थी। उन्होंने मुझसे कहा कि शारदा प्रसाद जो प्रेस सेक्रेटरी थे उन्होंने मुझसे कहा कि यदि मैडम को पता चल जाता पुस्तक के बारे में कि इसकी विषयवस्तु क्या है तो इसकी सारी प्रतियाँ जला दी जातीं और लेखक जेल में होता। और उनके जो अधिकारी थे उन्हें विस्तार से समझ में नहीं आया। वे उसे सामान्य राम कथा समझ कर छोड़ दिया। यदि उन्हें यह पता चलता कि किसी तरह से सेनापति के बेटे को मृत्युदंड दिया जा रहा है और वह सब किसकी ओर संकेत कर रहा है तो कुछ और हो गया होता। तो मुझे इस तरह का कोई भय नहीं रहता। मुझे लोगों ने कहा कि तू जेल जाएगा, इमरजेन्सी के समय में। पर मैंने कहा, जाऊँगा तो जाऊँगा। मैं यह मानता हूँ कि लेखक जब लिखता है न, उस समय उस में उसे कोई भय नहीं होता। उसके बाद वह चाहे डरता रहे, काँपता रहे कि यह न हो जाए वह न हो जाए। लिखने की जो अर्ज है वह इस तरह से होती है कि आप के मन में बात आयी तो आप लिख ही देंगे। उस समय न भय है, न त्रास है। लिख ही देंगे। और यदि किसी में डर है तो वह लेखक नहीं है। दूसरे पक्ष से भी एक दो पत्र ऐसे आये, ज्यादा नहीं, कि आपने हिन्दुओं का अपमान किया। उनके देवी-देवताओं को इस तरह से लिया, उस तरह से लिखा। मैंने उनको उत्तर लिखा कि यह सब तो आप समझ रहे हैं पर उसे जरा ध्यान से पढ़िए कि मैंने लाखों नहीं, तो हजारों हिन्दुओं को रामकथा पढ़ा दी। मैं कहूँ कि मेरे अपने पिता जो बिल्कुल सनातनी कला में पले-बढ़े थे उनको मैंने सुनाई तो उन्होंने कहा कि इसमें राम की अवमानना नहीं है इसलिए मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तो मुझे समझ में आ गया कि भाई इधर का दृष्टिकोण तो यही है, बल्कि कुछ लोगों ने तो यह भी कहा कि इसे वामपंथियों को भी स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि यह तो वामपंथी रामायण है। रूस की एक विद्वान महिला वाणना हैं। उन्होंने एक आलेख लिखा है 'कोहली एक जनतांत्रिक पुराणवादी' या 'कोहली का पौराणिक जनतंत्रवाद' इस तरह का। जो लिखा गया है उसमें कहीं भी सामंतवाद नहीं है, कहीं भी राजशाही नहीं है। और मैं तो कहता हूँ कि राम से बड़ा जनवादी कौन है? चौदह वर्ष उन लोगों के साथ जिनको बंदर-भालू मानते हैं, भाइयों की तरह उनके घर में रहे। उनके साथ खाया-पीया। सामान्य व्यवहार किया। उनसे बड़ा जनवादी कौन होगा? अब मैं इस स्थिति में आ गया हूँ लेखक की दृष्टि से, उम्र की दृष्टि से कि मेरा क्या बिगड़ जाएगा। इसलिए मैं निर्भीक और निश्चिंत हूँ।

इधर अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीय उपन्यासकारों ने भी पौराणिक कथाओं की ओर अपना रुख किया है। अमिश त्रिपाठी का 'शिवा ट्राइलोजी' नाम से उपन्यास-त्रयी (द इमोर्टल ऑफ मेलुहा, द सिक्रेट ऑफ नागाज़ तथा द ओथ ऑफ वायुपुत्राज) का प्रकाशन हुआ है जिसकी काफी चर्चा है। उसके बारे में आप का क्या कहना है?

मैंने वे उपन्यास पढ़े नहीं हैं। अत: उनके संबंध में बहुत कुछ नहीं कह सकता। बड़ी बात यह है कि उनके जो पाठक हैं उन्होंने मूल ग्रंथ पढ़ी नहीं है। तो फिर अंग्रेजी

वालों को भारतीय पौराणिक मूल ग्रंथों की उस रूप में जानकारी नहीं है। अत: उन्हें जो मिल जाए वह अच्छा है। हमारे जो विधिमंत्री थे मोइली साहब, उन्होंने भी 'रामकथा अधिवेशनम्' के नाम से कन्नड में दो खण्डों में रामकथा लिखी है। मेरी रामकथा जो कन्नड़ में अनुवादित हुई है उसकी भूमिका उन्होंने लिखी है। यह पहले मुझे मालूम नहीं था। मोइलीजी ने उसके विमोचन के समय कहा कि मैंने आपके ग्रंथ पढे हैं और मुझे उसमें से कुछ चीजें इतनी पसंद आयी कि उनको ले लिया। 'यू आर लाइक माई गुरू' तो मैंने कहा, ठीक है परम्परा में जो पहले आते हैं उससे चीजें हम ले लेते हैं। हम से पहले जो चीजे आई उसमें से हमने ले लिया। हमने आपके पहले रामकथा लिखी तो आपने ग्रहण किया, इसमें कोई बड़ी बात तो नहीं। मंच पर जब उनके अंग्रेजी अनुवाद का विमोचन दिल्ली में हो रहा था तो वहाँ मैंने देखा कि लोग उनकी धुँआधार प्रशंसा कर रहे हैं। मैं और मेरी पत्नी एक-दूसरे की ओर देख कर मुस्कुरा रहे थे क्योंकि जिन चीजों की लोग प्रशंसा कर रहे थे वह अंश तो मेरा लिख हुआ था। किन्तु, पाठक तो हिन्दी में उसे पढ़ा नहीं है वे तो उसे उनकी अंग्रेजी कृति के रूप में पढ़ रहा है तो ऐसा ही चलता है। अंग्रेजी के एक लेखक हैं अशुराज वगैरह। उनसे मेरी बातचीत हुई एक पुस्तक मेले में। बजावते बैठाकर लोगों ने आपस में वार्ता करा दी। उनसे मैंने पूछा कि आपने रावण को इतना तरजीह क्यों दिया? तो उन्होंने कहा कि मेरे घर के पास एक मंदिर है। लोग वहाँ आते हैं और उनकी पूजा करते हैं। मैंने कहा, यह कोई तर्क हुआ? तर्क की दृष्टि से बताओ कि ऐसा चरित्र प्रमुख पात्र बन सकता है किसी पुस्तक का? किसी उपन्यास का? आप चाहते हैं, किन्तु क्या वह जननायक बन सकता है? हमारा जनमानस उसे स्वीकार करेगा? बोले नहीं। लेकिन अंग्रेजी में पढ़ा जा रहा है, बिक रहा है। ब्रेस्ट सेलर हो रहा है, क्योंकि जो पौराणिक मूल्य हैं उनका पता उन्हें नहीं है। पात्र ले लिये, घटनाएँ ले लीं और पौराणिक मूल्यों को ध्वस्त कर रहे हैं। अब टी०वी० पर जो महाभारत आया उसमें बनाने वाले ने मूल ग्रंथ नहीं पढ़ा। लोग खुश हो रहे हैं कि चलो महाभारत देख लिया। कभी-कभी तो बहस कर लेते हैं कि महाभारत में ऐसा है, महाभारत में वैसा है। मैं कहता हूँ, कहाँ है दिखाओ। वे कहते हैं बी० आर० चोपड़ा वाले महाभारत में। तो यह तो अज्ञान है। अब हमारे यहाँ तो आपको पता है कि महाभारत के घर में प्रवेश को लेकर बड़ा फसाद होता है। अब जिस ग्रंथ का अंश श्रीमद्भगवत गीता है उसे घर में प्रवेश न करने दें तो इससे बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है। मेरे एक परिचित हैं उन्होंने मुझसे कहा कि जब से महाभारत का एक खण्ड आया है मेरे घर में तब से कलह-क्लेश सब आ गया इसीलिए मैं तो इसे लौटा रहा हूँ। मैंने कहा कि यदि एक खण्ड से आपके घर में इतनी बड़ी परेशानी है तो इस घर में तो इतने महाभारत हैं कि कोई जीवित ही न बचें! इससे बड़ा अंधविश्वास क्या हो सकता है?

आपने शताधिक पुस्तकों की रचना की । कई उपन्यास, लगभग 16 पुस्तकों का सम्पादन भी किया है। मेरी जानकारी में शोध व आलोचना के 11 ग्रंथ हैं। 7 कविता संग्रह, दो यात्रा संस्मरण, एक लेखकों का संस्मरण व एक साक्षात्कार

पुस्तक प्रकाशित हो चुका है। अभी हाल में आत्मकथा 'आत्मस्वीकृति' प्रकाशित हुई है। आपके सभी कृतियों की अपनी पृथक पहचान है, पाठकों द्वारा सराहे गए हैं, किन्तु आप अपनी दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण किसे मानते हैं?

जिस लेखक से यह पूछा जाता है वह यही कहता है कि माँ से कोई पूछे कि उसका कौन-सा बच्चा अधिक प्रिय है। मेरे लिए भी सचमुच बड़ी कठिन है क्योंकि सब के अपने-अपने गुण और अपने-अपने संस्कार होते हैं। लेकिन मैं यह कह सकता हूँ कि मुझे पहली बार जो अपस्टार्ट मिला, पहचान मिली, वह रामकथा से मिली। आपको जब यह लगता है कि मैं इसके कारण महत्वपूर्ण हो रहा हूँ तो आपको यह प्रिय लगने लगता है। इन दिनों संयोग से महासमर की चर्चा काफी हुई। खासकर राजस्थान पत्रिका ने इसे छापना आवश्यक समझा। तब से महासमर की चर्चा मैं काफी देखता हूँ। मैंने महासमर के कुछ अंश पिछले दिनों तीस वर्ष बाद फिर देखे। इतने दिनों बाद खुद भी कुछ भूल जाता हूँ और लेखक तो लिखने के बाद आगे बढ़ जाता है। दूसरा जो मैं लिखता रहता हूँ, सारा फोकस उसी पर रहता है। स्मरण शक्ति भी अब अवस्था के साथ-साथ कम होती जा रही है। विस्मरण हो जाता है। स्वयं भी पढ़कर गर्व करने की बात न कहूँ पर आत्म-संतोष तो जरूर होता है कि जो कुछ लिखा गया वह महत्व का है।

साहित्यिक जीवन में आपको अनेक पुरस्कारों और सम्मानों से नवाजा गया है। उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा साहित्य भूषण सम्मान, भारत मित्र संगठन मास्को द्वारा पुश्किन सम्मान भी मिल चुका है आपको। 'न भूतो न भविष्यति' के लिए व्यास सम्मान प्रदान किया गया। .आपको कैसा महसूस होता है। कौन-सा सम्मान पाकर आपको सबसे अधिक प्रसन्नता हुई?

देखिए, नवाजा शब्द का प्रयोग न कीजिए। नवाजिश शब्द का मतलब होता है कृपा करना। जो भी प्रात्सिाहन मिला है मैं उसे रामजी की कृपा मानता हूँ। वैसे होने को तो अभी ज्ञानपीठ है, सरस्वती सम्मान है, और भारत-भारती है। ऐसे बहुत सारे हैं जो अभी मुझे नहीं मिले हैं। मिलेंगे कि नहीं वह भी मुझे पता नहीं है। मैं मानता हूँ कि रामजी की कृपा से बावजूद सारे विरोधों के जो मिलना होता है मिल ही जाता है। और जो नहीं मिलता है उसके लिए मैं भगवान कृष्ण को याद कर लेता हूँ क्योंकि उससे बड़ा स्थितिप्रज्ञ कौन है? न आकांक्षा करता हूँ, न द्वेष करता हूँ, न किसी बात के लिए दु:ख होता है और न इस बात का द्वेष है कि उसे मिल गया, मुझे नहीं मिला। जब जो मिलना होता है मिल ही जाता है। उससे आपकी प्रशंसा भी होती है और एड़ियाँ रगड़ कर, रिश्वत देकर जो पुरस्कार मिलते हैं उनको पाकर आप अपनी ही नजर में गिर भी जाते हैं।

आज कल साहित्य में विमर्श का दौर चल रहा है, स्त्री विमर्श, दलित विमर्श। आप कैसे उसको देखते हैं?

मुझे यह सब प्रिय नहीं है। जिस तरह से नई कहानी के युग में उन्होंने शुरू किया कि प्रामाणिक अनुभूति आदि-आदि। मैं तो कहता हूँ कि लेखक वह है जो परकाया प्रवेश

करता है। आप अपनी ही अनुभूति लिखेंगे दूसरे का सोचेंगे नहीं, तो क्या लिखेंगे? तो वहीं से ये सब विमर्श शुरू हुए। अब स्त्री ही यदि स्त्री की पीड़ा लिखे और बाद में कहिए कि मुझे अलग कर दिया। दलितों के विषय में भी यही बात है। पीड़ा किसी की भी हो, वाल्मीकि ने तो क्रौंची की पीड़ा से आरंभ किया और उनकी संवेदना फूट पड़ी। हम तो वहाँ से देखते हैं पीड़ा किसी की भी हो। जाति में धर्म में या ऊँच-नीच में बाँटकर साहित्य को नहीं देखते। ये स्पेशलाइजेशन- आँख के डॉक्टर, कान के डॉक्टर जैसा- साहित्य में नहीं होता। इस प्रकार मेरी न रुचि है ऐसे साहित्य में। न लिखता हूँ और न चाहता हूँ कि ऐसी रुचि कोई दे साहित्य में।

कोहलीजी, आपने अपनी व्यंग्य रचना 'हुए मर के हम जो रुसवा' में इस बात का उल्लेख किया है कि रचनाकार और उसकी रचना को लोग ठीक से समझ नहीं पाते। किसी रचना की समीक्षा करते समय उसका वास्तविक मूल्यांकन न कर उसका अवमूल्यन कर दिया जाता है। आपकी दृष्टि में आलोचकों की कैसी और क्या भूमिका होनी चाहिए?

देखिए, बहुत पहले मैंने एक पुस्तक लिखी थी छोटी सी जो शायद अब उपलब्ध भी है कि नहीं, कुछ प्रसिद्ध कहानियों के विषय में। नया-नया अध्यापक हुआ था, नई-नई कहानियाँ पढ़ाने को मिली थी। कहानियाँ तो पढ़ाता था पर मेरे मन में एक बात यह थी कि (सृजनात्मक लेखन के कारण आत्मबल था, अहंकार न कहें।) मुझे क्या आवश्यकता है कि अगर 'उसने कहा था' कहानी मुझे पढ़ानी है तो उसके लिए मैं किसी आलोचक का निबंध पढ़ूँ। जो मेरा विवेक और बुद्धि कहता है वह क्यों न करूँ। मैं शिक्षित हूँ, मुझमें संवेदना है। मेरा मानना है कि मैं उस रचना के बीच में से ही वह कसौटी निकालूँ जिस पर उसे कसना है। आलोचक का यह काम जो है कि वे पहले के एक ढाँचा लेकर के चलते हैं, यह मुझे नहीं जँचता। अभी मेरी एक किताब आई है- 'आत्मस्वीकृति' उसमें मैंने कहा कि यह कहानी मैंने लिखी थी उन दिनों, जिसमें यह मैं हूँ और यह मेरे भाई हैं। इस रूप में इसका शिल्प मैंने नया करने की कोशिश की। एक लेखक हैं, मुझसे भी बुजुर्ग, नाम नहीं ले रहा हूँ, उन्होंने कहा कि उसके कुछ पृष्ठ मैंने पढ़े हैं पर आपने उसमें कहानी डाल दी है। कहानी में तो कल्पना होती है और आत्मकथा में कल्पना नहीं होती। अब इस तरह के जो सिद्धांत हैं मुझे नहीं जँचते। मैं यह कहता हूँ कि मैंने अपने जीवन से साहित्य निकाला था और और साहित्य से अपने जीवन निकाल कर रख रहा हूँ। अब कहानी में कल्पना होती है कि नहीं, यह मैं नहीं कहता। मैं तो कहता हूँ कि इसमें जो है वह मैं हूँ। लेकिन वे अपनी लीक पर चल रहे हैं, इसीलिए आलोचकों के प्रति मेरे मन में जो विचार है वह यह है कि वे रचना के बीच में घुसकर उसका विश्लेषण नहीं करते। बाहर से एक साँचा उस पर आरोपित करते हैं। ऐसे तो रचना की हत्या होती है।

कई बार व्यंग्य अपने निहित उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम बन जाता है जिसमें किसी विशेष जाति, संप्रदाय या राजनैतिक दल को टारगेट (लक्ष्य) किया जाता है। आपके अनुसार ऐसे व्यंग्य और साहित्यिक व्यंग्य में क्या अंतर है?

देखिये, मुझे ऐसा लगता है कि जो आपके व्यक्तिगत अनुभव हैं वे आपकी लेखिनी में उतरेंगे ही। ऐसा नहीं है कि वे न आयें, लेकिन किसी को व्यक्तिगत रूप से गाली देनी हो और आप उस पर रचना लिख रहे हैं, यह ठीक बात नहीं है। ऐसा नहीं है कि मैंने जीवन में कभी किसी का 'कैरिकेचर' न बनाया हो। अब मेरी जो कहानी थी 'ज्ञान की पिपासा' जो मेरे अपने अध्यापक की थी। वे खुद तो पढ़ कर नहीं आते थे और क्लास में आकर हमेशा कहते थे कि हमको पढ़ना चाहिए। उनकी कथनी और करनी का जो अंतर था उस पर मैंने लिखा था और यह बात उनको भी मालूम थी। उन्होंने पढ़ ली और क्लास में इसकी चर्चा भी की। अतः विशेष परिस्थिति में ऐसा भी होता है लेकिन सामान्यतः तुलसी ने जैसे 'स्वान्तः सुखाय' कहा, वह 'स्व' जो है वह समाज से अलग नहीं होता। कुछ जो मेरी पीड़ा है वह मेरे समाज की पीड़ा है, देश की पीड़ा है। आज कल व्यंग्य सबसे अधिक राजनीति पर किया जा रहा है क्योंकि वह इतना सरल काम हो गया है कि जो वे करते हैं उसे लिखने से व्यंग्य सहज ही बन जाता है। आजकल राजनीति की स्थिति तो बदल रही है। लेकिन मैं यह कहता हूँ कि हमारे देश में तो स्थिति यह हो गई कि जो कुछ घटित हुआ उसे अभिधा में लिख दो तो वह व्यंग्य हो जाता है।

आप अनेक महत्त्वपूर्ण सरकारी-गैर सरकारी विभागों में हिन्दी सलाहकार समिति के सदस्य के रूप में जुड़े रहे हैं। क्या आप उन विभागों के द्वारा हिन्दी में किए गए क्रिया-कलापों से संतुष्ट हैं? क्या लगता है आपको? क्या वे वास्तव में चाहते हैं कि इस दिशा में कुछ काम हो?

अधिकांश क्षेत्र में मैं उन समितियों में रहा जिसकी कभी बैठक ही नहीं होती थी। दो-दो वर्ष तक हम रहे और बैठक ही नहीं हुई। जो हिन्दी अकादमी की कुछ उस तरह की समितियाँ थीं जिसमें पुरस्कार बाँटने पर विचार होता था उसमें आपका महत्व बहुत बढ़ जाता है। लेखक लोग आपके चारों तरफ चक्कर काटने लगते हैं, लेखिकाएँ आपको खाने पर बुलाने लगती हैं। यह सब तो होता है पर यदि सरकारी नीति के बारे में आप पूछना चाह रहे हैं, तो जब हम सरकार की बात करते हैं तो जेहन में वही सरकारें याद आती हैं जो विगत साठ साल से रही हैं। अभी तो कुछ बदल गया है पर उन सरकारों की बात करें तो नेहरू से मनमोहन सिंह तक किसी को ठीक से हिन्दी नहीं आती। सोनिया गाँधी को आज तक हिन्दी नहीं आयी। उन्हें तो पता भी नहीं होता है कि वे क्या बोल रही हैं। हिन्दी दिवस पर संदेश पढ़ने के लिए चितमबरम् जब हिन्दी के दो शब्द नहीं बोलते तो आप क्या उसकी नीति को मान कर चलेंगे? इसलिए मुझे यह लगता है कि ये समझते हैं कि इन लोगों को एक खिलौना दे दो, हिन्दी पखवाड़ा मना लो, हिन्दी सप्ताह मना लो, हिन्दी मास मना लो और तुमको जो लाख-दो लाख रुपये खर्च करने हैं कर लो। ये बिल्कुल औपचारिकताएँ हैं। अब दिल्ली विश्वविद्यालय के इस समय के जो

कुलपति हैं वे कहते हैं कि अंडरग्राउण्ड फुटपाथ जो होता है उसे हिन्दी में वही लिखो। हिन्दी में इसे बदलने की क्या जरूरत है। 'अंडरपास' के लिए शब्द है सुरंग। आप यहाँ से घुसिए और उधर निकल जाइये। इसतरह उन्हें हिन्दी का, राष्ट्रभाषा का रत्तीभर ज्ञान नहीं। वे आदमी बिहार के हैं, उनकी भाषा हिन्दी है, लेकिन अंग्रेजी में वे इतने सन गये हैं कि उनको सोचने का इल्म ही नहीं है। अब वे अनुवाद भी नहीं कर पाते। अभी यू०पी०एस०सी० का मामला सुना जा रहा है कि वे अनुवाद इस तरह से करते हैं कि उसका अर्थ कुछ से कुछ हो जाता है। हमारे पड़ोस में एक बाजार बना है। 12-15 दुकानें हैं। यहाँ जो आई० एस० ऑफिसर आते हैं उन्होंने इसका नाम रखा 'वैशाली कन्विनियंस शॉपिंग सेंटर'। हिन्दी अधिकारी ने जब उसका अनुवाद किया, चूँकि हिन्दी में अनुवाद होना सरकारी आदेश है, तो उसने उसका अनुवाद किया 'वैशाली सुविधा विपणन केंद्र' उसने शब्दकोश के हिसाब से ठीक ही किया। शॉपिंग के लिए विपणन। अब हिन्दी वाले ही पूछेंगे कि इसका अर्थ क्या है? इसका सीधा था कि सुविधा बाजार रख दीजिए। समस्या यह है कि वे हिन्दी में सोचेंगे नहीं, उसका अनुवाद अंग्रेजी से करेंगे तो यह समस्या तो होगी ही और यही तो रवैया है सरकार का।

आपको अपनी साहित्यिक पहचान बनाने के लिए किन संघर्षों से गुजरना पड़ा? क्या एक साहित्यकार के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए, ख्याति अर्जित करने के लिए केवल रचना की उत्कृष्टता काफी है?

रचना में जो दम है, उसमें जो गुण हैं उसकी उत्कृष्टता कहिए, उसकी लोकप्रियता कहिए, उसकी पठनीयता कहिए, उससे तो आपका प्रचार-प्रसार होगा ही, पाठक आपको मिलेंगे ही। इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन जो दूसरी चीजें हैं, जैसे सरकारी समितियों में होना, पुरस्कारों का मिलना, विदेश-यात्राएँ करना आदि-आदि। इनसे जो वास्तव में पढ़ा नहीं है उस पर बहुत रौब पड़ता है। अब हमारे यहाँ अंग्रेजी वाले हैं, उन्होंने तो पढ़ा नहीं है। जब उन्हें कहा जाता है कि अमुक लेखक को व्यास सम्मान मिला है तो वे लोग सोचते हैं कि 'ओके ही इज अवार्डेड विथ व्यास सम्मान।' वैसे लोगों पर उसका असर पड़ता है। उन्हें तो न मूल पुस्तक से कुछ लेना है, न पुस्तककार से। मुझे कई पुरस्कार मिलें, पर मैं आज भी मानता हूँ कि उस दीवार पर जो लगी है मेरी डी०लिट० की मानक डिग्री, जो राष्ट्रपति ने दी थी, वह सबसे सम्मानपूर्ण है। हालाँकि उसके साथ पैसा नहीं जुड़ा है। और यह डिग्री मुझे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दी गई। मुझे यह डी०लिट० की डिग्री मिली। उसके बाद एक इटैलियन को एस०डी० डिग्री और एक जापानी को जापानी डिग्री मिली। डी०लिट० लेने वाला मैं अकेला था। अगर इसके साथ पैसा जुड़ा होता तो उसकी ढेरों चर्चाएँ होती अखबारों में। जिस उपाधि या सम्मान से पैसा जुड़ा नहीं है उसकी कोई चर्चा नहीं होगी। यही तो हमारे पढ़े-लिखे समाज की विडम्बना है। पुरस्कारों का यह लाभ है कि आपका नाम उछल जाता है। मैंने अपनी इतनी पुस्तकों में से किसी भी पुस्तक पर

न तो राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रियों की सम्मति ली और न उनके हाथों विमोचन करवाया, न मैंने उनसे भूमिका लिखवाई। हालाँकि अटलजी को जाकर मैंने अपनी किताबें दीं। वे पढ़ते थे, किताबें माँगते थे कि यह किताब मेरे पास नहीं आई है। तो मैं तो बस यूँ ही गया और देकर चला आया, पर उसके चौथे दिन मैंने देखा कि अखबार में छपा था कि एक लेखक हैं जिन्होंने प्रधानमंत्री को किताब भेंट की। उसकी रिपोर्ट, उसका फोटो सब छपे थे। तब मुझे लगा कि मैं तो बड़ा मूर्ख था। जाकर यूँ ही दे आया। फोटो भी नहीं खिंचवाया। ईश्वर ने मेरे भीतर ऐसा कुछ कर दिया है कि इन चीजों का मुझे इतना लोभ नहीं है। अभी जैन सम्प्रदाय पर राष्ट्रपति भवन में एक पुस्तक का विमोचन किया गया। उसके सम्पादक मंडल में मैं भी था। अब उन्होंने मुझे कहा कि आप भी चलें। मैंने उनसे कहा कि इसमें मैंने कुछ खास काम नहीं किया है। अतः मैं नहीं जाऊँगा। उसका श्रेय मैं नहीं लूँगा। मैं पूरा दिन राष्ट्रपति भवन में नष्ट नहीं कर सकता। वहाँ का अपना नियम है, तहजीब है, समय लग ही जाता है।

अपने जीवन की कुछ रोचक घटनाएँ बताइए?

पूरे जीवन को देखा जाए तो घटनाएँ तो अनेक हैं। उसमें से रोचक खोजना कठिन बात है। पर आपके कहने से मुझे यह याद आया कि मुझे उत्तरप्रदेश संस्थान से साहित्य पुरस्कार मिल रहा था और देने आए थे अटलजी, जो उस समय प्रधानमंत्री थे। मैं और कमल किशोर गोयनका साथ-साथ बैठे हुए थे। प्रधानमंत्रीजी ने कहा कि मैं पंजाब गया हुआ था तो उन लोगों की शिकायत यह थी कि गुरुओं की वाणी हिन्दी में पढ़ाई नहीं जाती। मैंने हाथ खड़ा करके कह दिया कि हम तो गुरूनानक पढ़ाते हैं। उन्होंने कहा कि लेकिन वे ऐसा कह रहे हैं। मैंने फिर कहा कि वे गलत कह रहे थे। फिर उन्होंने अपना विषय बदल दिया और कुछ और बोलते चले गए। बाद में मेरे मन में एक बात आयी कि अगर मैं भरी सभा में हाथ उठाकर प्रधानमंत्री का जवाब दूँगा तो कौन-सा प्रधानमंत्री मुझे कुछ देगा। वह तो पहले ही मेरा नाम काट देगा। तो ऐसी मूर्खताएँ मैं कभी-कभार करता रहता हूँ। जब मैं एम० ए० में पढ़ रहा था तो ऐसी कई घटनाएँ हुईं। डॉ० नगेन्द्र के विषय में भी मैंने अपनी आत्मकथा में दिया है। लोग कहते थे कि तुम्हारा पूरा कैरियर बर्बाद हो जाएगा। तुम इस तरह की बात क्या कर रहे हो। डॉ० नगेन्द्र ने कहा कि डिसरटेशन के लिए आपको कौन सा विषय चाहिए, मैंने कहा, अज्ञेय का कथा साहित्य। उन्होंने कहा, यह नहीं मिलेगा। और कोई बोला है। तो मैंने कहा, जो मैंने मांगा वह आप मुझे दे नहीं रहे हैं। अब आपकी जो मर्जी हो, दे दीजिए। अब आसपास वाले सभी मुझे कुहनी चुभा रहे थे कि क्या कर रहे हो? मरोगे क्या? पर मेरे मन में इन चीजों के विषय में भय कभी नहीं रहा। मुझे लगा, मैंने तो कुछ गलत कहा नहीं। अब एक बार डॉ० ओमप्रकाश पढ़ा रहे थे। उन्होंने कहा कि बौद्ध दर्शन में आत्मा ऐसी है। मैंने कहा कि उसमें आत्मा का ट्रांस माइग्रेशन नहीं होता। एक दीये से जैसे दूसरा दीया जलता है

वैसे ही एक आत्मा से दूसरी आत्मा का जन्म होता है। तो मेरा मजाक उड़ा कर उन्होंने कहा कि महात्मा बुद्ध आपको बता गए होंगे। मैंने खड़ा होकर कहा, वे न तो आपको बताकर गए हैं, न मुझे। मैंने तो पुस्तक में पढ़ा है और उस पुस्तक का नाम यह है। मेरे साथ रवीन्द्र कुमार सिंह था। उसने मुझे बाँह पकड़ कर बैठाया। इस तरह से तो दिल्ली यूनिवर्सिटी में तुम्हें नौकरी भी नहीं मिलेगी।

आगामी पीढ़ी के रचनाकारों के लिए, जो युवा रचनाकार हैं, आप कुछ कहना चाहेंगे?

जरूर, मुझे एक बात जो कहनी है वह यह है कि अपने जीवन में मैंने एक चीज सीखी कि शार्ट-कट मत खोजिए आप। आप यह सोचते हैं कि वैशाखी या सीढ़ी लगाकर ऊपर चढ़ जाएँ। इस संदर्भ में मैं एक घटना बताता हूँ। अभी चार दिन पहले एक पुस्तक के विमोचन में मैं गया था। मैंने उससे कहा कि एक छोटी-सी पुस्तक, जिसका कोई महत्व नहीं है, के लिए इतना ताम-झाम कि अडवाणी जी को बुला लिया, मंत्रियों को बुला लिया, पुलिस फोर्स लगी हुई है, प्रकाशक बड़े-बड़े पोस्टर लगाए हुए हैं। मैंने यह सोचा कि इससे लेखक को सिवाय गलतफहमी के और कुछ नहीं होगा। वह सोचने लगेगा कि मैं बहुत बड़ा लेखक हूँ। मैंने अपनी किताब की एक प्रति उसको दी और कहा कि देखो, इसके शुरू के पृष्ठों में मैंने कुछ निशान लगाए हैं। उसने कहा कि मैं आपके यहाँ आकर कुछ सीखना चाहूँगा। वस्तुतः लेखक लेखन में कुछ मेहनत नहीं करते। भाषा, भाव पर ध्यान नहीं देते। लेखक यदि बनना हो तो थोड़ा धैर्य रखना आवश्यक है। चलते-फिरते लिख लेने से बात नहीं बनेगी। आपको आश्चर्य होगा कि दिल्ली में रहते हुए भी मैंने आरंभिक दिनों में यहाँ के प्रकाशकों को डाक से किताबें भेजी थीं। मेरी पहली कहानी जब छपी थी मैं भी वहीं था जहाँ आज सभी हैं। आज तो कहते हैं आप नरेन्द्र कोहली हैं। जब वहाँ से स्वीकृति आ गई। महेन्द्र कुलश्रेष्ठ वहाँ के 'राजपाल' के सम्पादक थे। उन्होंने कहा कि कभी दर्शन भी तो दो। मैंने कहा कि आप स्वीकृत कर लिया है तो अब मैं आऊँगा। मैं गया था मिलने, पर अब तो अपनी उम्र का थोड़ा लाभ उठाता हूँ। मैं प्रकाशक के पास नहीं जाता।

❑❑❑

साक्षात्कारकर्ता पत्रिका के संपादक हैं।

दि ग्रेट नरेन्द्र कोहली

● हरीश नवल

डॉ० नरेंद्र कोहली ने मुझे समीक्षक बन सकने की प्रेरणा दी तथा मेरे भीतर के व्यंग्यकार और उसकी रचनाओं को पंख दिए। 'ब्लू स्टार' नामक साइक्लोस्टाइल पत्रिका में उन्होंने मेरी रचना 'दौरा बाढ़ इलाके का' प्रकाशित करवाई। उसी पत्रिका में उनका एक व्यंग्य छपा 'अमेरिकन जांघिया' यह रचना मुझे अपने कतिपय मित्रों व पड़ोसी को सभ्य नागरिक का आचरण सिखाने में बेहद करगार सिद्ध हुई।

भारत की राजधानी दिल्ली। इसी दिल्ली का एक कॉलेज। नाम हस्तिनापुर कॉलेज। कॉलेज काफी बिखरा-बिखरा सा। लड़के-लड़कियों के दल इधर-उधर फैले हुए हैं। मुख्य भवन में कई कक्ष। एक बड़े कक्ष के बाहर लिखा हुआ- स्टाफ रूम। स्टाफ रूम में अड़ियल, बढ़ियल, दढ़ियल अनेक प्रकार के प्राध्यापक। अध्यापक चाय पीते हुए। अध्यापक राजनीति पर बहस करते हुए। अध्यापक चुरूट लगाए। अध्यापक कहकहे लगाते हुए। अध्यापक वेतन पर बहस करते हुए। ये आम मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे, सभ्य और कह सकते हैं तमीज़दार लोग थे।

इन सबसे परे एक अलग ही किस्म के गंभीर, चिंतक और हमारे प्रिय लेखक डॉ० नरेन्द्र कोहली थे। वे मेरे परम मित्र प्रेम जनमेजय के सगे अध्यापक रहे थे। वे मेरे आत्मीय दोस्त जो तब रमेश दिविक था, के सहकर्मी थे। गलत कह गया मैं। रमेश शर्मा दिविक जो कालांतर में प्रख्यात दिविक रमेश बने और उसी हस्तिनापुर कॉलेज जिसका नाम मोतीलाल नेहरू कॉलेज हो गया था, के प्राचार्य रहे हैं।

प्रेम, दिविक और मेरे व्यंग्य सहयात्री सुरेशकांत जो उस कॉलेज में तब छात्र की भूमिका में थे- तीनों ही डॉ० नरेन्द्र कोहली के प्रशंसक थे। मैं कॉलेज ऑफ वोकेशनल स्टडीज़ में पढ़ाने लगा था। प्रेम भी वहीं आ गए थे। हम दोनों साथ-साथ, हम दोनों हाथ-हाथ, कभी करते दो-दो हाथ डॉ० नरेंद्र कोहली को मिलने उनके हस्तिनापुर कॉलेज गए थे। मैंने डॉ० कोहली को दूर से देखा था, उस दिन बेहद पास से उन्हें महसूस किया। उनके पाठक के रूप में उनका बहुत कुछ नजरों से गुजरा था पर कभी लेखक से बात नहीं हो पाई थी। उस दिन हुई और प्रेम के गुरू को मैं अपने भी गुरू के रूप में उसी दिन की बातचीत

के बाद मानने लगा था। उनका उपन्यास 'साथ सहा गया दुख' मुझे भीतर तक भिगो चुका था। उनकी शोधपरक पुस्तक 'हिंदी उपन्यास : सृजन और सिद्धांत' मेरे शोधार्थी का शमन कर रही थी। उनकी कहानियाँ चाव से पढ़ता रहा था। 'निचले फ्लैट में' के प्रभाव में रहा था। 'शम्बूक की हत्या' में उनका नाटककार रूप पहचाना जाता था। 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' व्यंग्य शिल्प और शैली के नयेपन से मुझ आंतकित कर चुका था। मैं यदा-कदा श्रद्धेय गुरूवर डॉ० विजयेंद्र स्तातक के श्रीमुख से उनकी यशोगाथा के टुकड़े सुन चुका था। मैं हस्तिनापुर कॉलेज से तो लौट आया पर डॉ० नरेंद्र कोहली का व्यक्तित्व दिलो-दिमाग पर छाया रहा। उनसे मिलने की उत्कंठा बढ़ती गई।

सन् 1975 में डॉ० कोहली का चर्चित उपन्यास 'दीक्षा' प्रकाशित हुआ था। रामकथा का एक नया आयाम था, दृष्टिकोण वैज्ञानिक एवं अत्याधुनिक था। एक सनसनी-सी फैली थी। उस समय कोहली जी का वर्चस्व एक बड़े व्यंग्यकार के रूप में बन रहा था। व्यंग्य की महात्रयी के बाद के मुख्य व्यंग्यकारों में उनकी गणना हो रही थी। यही वह समय था जब प्रेम जनमेजय, मैं सुरेशकांत व्यंग्य लेखन के प्रति पूर्णतया समर्पित होने का मन बना रहे थे। दिल्ली से बाहर हमारे समानांतर हरि जोशी, श्रीकांत चौधरी, अंजनी चौहान, ज्ञान चतुर्वेदी, विनोद शंकर शुक्ल, यज्ञ शर्मा, श्रीकांत वैष्णव, प्रकाश पुरोहित, प्रभु जोशी, सुरेश सेठ, मनीष राय, निशिकर आदि रचनाकार जोड़ीदार बन रहे थे। डॉ० नरेंद्र कोहली के साथ-साथ अजातशत्रु, अशोक शुक्ल और सुदर्शन मजीठिया व्यंग्य के मार्ग प्रसस्त कर रहे थे। कोहली जी हम सबके प्रेरक थे। परंतु कोहलीजी का संसाचितेता उन्यासकार रूप छाने लगा था। व्यंग्यकार के ऊपर 'दीक्षा' के प्रकाशन से पूर्व पाण्डुलिपि पर चर्चा करते हुए सरोजिनी नगर, नई दिल्ली में एक विशेष गोष्ठी आयोजित की गई। मैं तब तक गोष्ठियों में बोलने का साहस नहीं कर पाता था पर डॉ० कोहली के आदेशात्मक आग्रह पर मेरा समीक्षक भी सजग हो उठा। मैंने कुछ कहा था। वह रिपोर्ट में भी छपा था। 'दीक्षा' वाचन से मुझे अहसास हो गया था कि एक उल्लेखनीय कृति के रूप में वह याद की जाएगी। ऐसा ही हुआ। 'दीक्षा' जबर्दस्त हिट हुई।

डॉ० नरेंद्र कोहली ने मुझे समीक्षक बन सकने की प्रेरणा दी तथा मेरे भीतर के व्यंग्यकार और उसकी रचनाओं को पंख दिए। 'ब्लू स्टार' नामक साइक्लोस्टाइल पत्रिका में उन्होंने मेरी रचना 'दौरा बाढ़ इलाके का' प्रकाशित करवाई। उसी पत्रिका में उनका एक व्यंग्य छपा 'अमेरिकन जांघिया' यह रचना मुझे अपने कतिपय मित्रों व पड़ोसी को सभ्य नागरिक का आचरण सिखाने में बेहद करगार सिद्ध हुई।

डॉ० कोहली दक्षिणी दिल्ली की कॉलोनी 'ग्रेटर कैलाश' के पास एस० ब्लॉक में रहते थे तथा लगभग नियमित रूप से एक साहित्यिक संगोष्ठी का संचालन करते थे। उनके एक अन्य शिष्य हरिमोहन तथा प्रेम जनमेजय ने एक पत्रिका का संपादन किया था जिसमें मेरी व्यंग्य कथा 'विक्रमार्क, बुढ़िया और सराय रोहिल्ला' प्रकाशित हुई थी जिसे

पढ़कर डॉ० कोहली ने अपनी संगोष्ठी में 'एक रचनाकार की रचनाएँ' में व्यंग्य पढ़ने के लिए आमंत्रित किया। सच कहूँ तो मुझे ढंग से पढ़ना नहीं आता था। उच्चारण का दोष, पंजाबी लहजा व कहाँ पॉज देना है आदि कुछ न आता था। वह गोष्ठी मेरे लिए ऐतिहासिक सिद्ध हुई। 'विक्रमार्क' सहित मेरी कुछ सात रचनाएँ सुनी गईं तथा सराहना का प्रोत्साहन पुरस्कार मिल सका। तब कोहलीजी ने कहा कि अपने प्रथम व्यंग्य संकलन में शीर्षक रूप में 'विक्रमार्क, बुढ़िया और सराय रोहिल्ला' ही देना। उनकी सहधर्मिणी विदुषी डॉ० मधुरिमा कोहली से भी तभी उत्साहवर्द्धन का आशीष मिला था। दोनों मेरी गलतियाँ सुधारते थे।

कोहलीजी का स्कूटर थक गया और उन्होंने कार खरीद ली थी। मित्र, शिष्य व अन्यगण मुदित हुए थे। उन्होंने धाम भी बदला। पीतमपुरा वैशाली के अपने प्लॉट में उन्होंने एक शानदार घर बनवाया। खूब खुला, पीछे एक लॉन भी रखा। प्रेम और मैं तब पश्चिम बिहार की एक सोसायटी 'साक्षरा अपार्टमेंट' की सदस्यता ले सकने में सफल हुए थे। हम दोनों भी पिता बन चुके थे। डॉ० कोहली ने एक घर में एक आसमानी फव्वारा लगाया था जिससे झरने की तरह नीचे पानी झरता था। हमारे बच्चों ने उसमें मुफ्त स्नान कर भवन का भीगा-भीगा उद्घाटन कर दिया था। डॉ० कोहली बच्चों के इस भव में महामुदित हुए थे। नए भवन में स्टडी ने बहुत आकर्षित किया था। बाद में कम्प्यूटर पदार्पण युग ने डॉ० कोहली को नवतकनीक का सुख प्रदान किया था।

नए भवन में डॉ० नगेंद्र की अध्यक्षता में रचना गोष्ठी की बागडोर डॉ० कोहली ने थाम ली थी। हर बार नई रचनाएँ सुनने और सुनाने का सुख प्राप्त होने लगा था। दो-तीन रचनाकार रचना पाठ करते और शेष समीक्षात्मक टिप्पणियाँ देते। मैं, प्रेम और आशा जोशी भी पश्चिम बिहार के साक्षरा में रहने लगे थे। वहीं से गोष्ठी में आते और नया लिखने की दीक्षा कोहलीजी से प्राप्त करते। पश्चिम बिहार से पूर्व मैं लगभग एक वर्ष कोहलीजी का पड़ोसी होने का सुख प्राप्त कर सका था। वैशाली की निकटवर्ती विशाखा इन्क्लेव में मैं रहता था जहाँ स्वयं डॉ० कोहली कई बार पधारकर मुझे और मेरे परिवार को सुख प्रदान कर सके थे।

रामकथा का नरेंद्र कोहली संस्करण बेहद लोकप्रिय हुआ था। उसके अंश देश के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। डॉ० कोहली का ध्यान तत्पश्चात् भगवान कृष्ण की ओर गया। उन्होंने महाभारत का सम्यक अध्ययन किया। उसी विषयक अन्य ग्रंथों से चिंतन, विमर्श के नवपाठ ग्रहण किए और अपनी कृष्ण विषयक सोच के साथ 'महासमर' का धारावाहिक लेखन किया। इसे भी पाठकों ने हाथों-हाथ लिया। हमें सौभाग्य मिला 'महासमर' के कतिपय अंशों का प्रकाशनपूर्व वाचन सुनने का, जो डॉ० कोहली की ओजस्वी वाणी में होता था। समीक्षात्मक टिप्पणियों का आदान-प्रदान इस बार भी था।

डॉ० कोहली सर्वाधिक प्रशंसित नामों में हो गए थे। उनकी रचनाओं ने बिक्री के रिकार्ड बनाए। रॉयल्टी के रूप में अपना अधिकार ग्रहण करना डॉ० कोहली को प्रिय लगता रहा है। वे इस तथा अन्य मामलों में भी अति स्पष्ट हैं तथा स्पष्टवादी हैं। वे सच्चे निर्भीक और बाहर-भीतर एक-से रूप वाले व्यक्ति हैं। वे हिप्पोक्रेट नहीं हैं। वैशाली में जनवरी 1990 में डॉ० कोहली ने अपने पचासवें जन्म-दिन का भव्य आयोजन किया था जिसमें देश के अनेक जाने-माने रचनाकार सम्मिलित हुए थे। डॉ० कोहली को देश-विदेश के बुलावे आते थे। मान-सम्मान, पुरस्कार आदि से उनकी झोली सदैव भरी रही है। वे कभी स्वयं पुरस्कार-योजना नहीं बनाते थे। कभी ऐसा निर्देश न उन्होंने मेरे जैसे शिष्यों को दिया। वे एक स्नेही पिता, सहृदय पति, सहनशील पड़ोसी और संस्कृति के जीवंत वाहक हैं।

एक नरेंद्र को जब दूसरा नरेंद्र मिला, नरेंद्र कोहलीजी के रचनाधर्मी जीवन में एक नया मोड़ आया। उन्हें मिलने वाला दूसर नरेंद्र- स्वामी विवेकानंद हैं जिनका जीवनपरक उपन्यास उन्होंने 'तोड़ो कारा तोड़ो' के रूप में पाठकों को दिया है। विवेकानंद की कई जीवनियाँ प्रसिद्ध व प्रामाणिक हैं पर 'तोड़ो कारा तोड़ो' मानों एक चलचित्र है जिसकी आत्मीय शैली विवेकानंद के चरित्र के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन करती है। मुझे सबसे अधिक पसंद आता है वह पक्ष जहाँ युवा (नरेंद्र) विवेकानंद अपने गुरू रामकृष्ण परमहंस के प्रति अतुलनीय समर्पण भाव रखते हैं।

डॉ० नरेंद्र कोहली के साथ चण्डीगढ़, जालंधर, भोपाल, साँची, झाँसी, लखनऊ आदि कई जगह जाना हुआ। बाहर की इन यात्राओं में उन्हें पास से काफी जानने का मौका मिला। जो उन्हें ठीक से नहीं समझते वे उन्हें तुनकमिजाज, दम्भी व मूडी समझने का विभ्रम पाल सकते हैं। सांस्कृतिक चेता व्यक्ति जो शुद्धता की कसौटी पर ही तथ्यों, व्यक्तियों और संस्थाओं को तौलता या जाँचता हो, कभी-कभी बोर भी लग सकता है। मैंने कई बार यह बोरियत उल्लास से प्राप्त की है।

श्रद्धेय डॉ० कोहली से संदर्भित सभी पुस्तकें एक ओर हैं तथा ईशान महेश की पुस्तक 'सृजन-साधना' दूजी ओर। जिस ओर ईशान है वही पलड़ा भारी है। गुरू के प्रति जैसा समर्पित भाव कोहलीजी विवेकानंद में पाते हैं, वैसा ही भाव मुझे ईशान महेश में कोहलीजी के प्रति दिखाई देता है। ईशान ने लिखा, 'जिन दिनों मैंने डॉ० कोहली की रामकथा पढ़ी थी, उन दिनों मुझे स्वप्न में राम और विश्वामित्र के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं दिया। डॉ० नरेंद्र कोहली विश्वामित्र के रूप में दिखाई देते थे, मुख पर असीम शक्तिपुंज लिए और राक्षसों से घिरा मैं उन्हें सहायता के लिए पुकारता था और उनके आने का समाचार पाकर राक्षस-समूह भाग खड़ा होता था। 'अभिज्ञान' और महासमर' पढ़ते समय सब कुछ कृष्णमय दिखता था। आज ईशान महेश एक संत सम जीवन व्यतीत कर रहे हैं जिसमें का समस्त धवलपन उन्हें हमारे गुरू कोहली से ही मिला है। कभी ईशान

से कोहलीजी विषयक बातें हुई थीं जिनमें मैंने जो सीखा, जो जाना उससे कोहलीजी का कद मेरी निगाहों में और अधिक बढ़ गया।

उपसंहार

हिंदू कॉलेज की एक साहित्यिक गोष्ठी में अध्यक्षता कर रहे डॉ० नरेंद्र कोहली का अपने को शिष्य घोषित करते हुए मैंने कहा है-'प्रेम जनमेजय अर्जुन की भाँति और मैं एकलव्य की तरह हूँ। मैंने इतना भर ही कहा था कि उनके गले का भर्राता स्वर मुझे सुनाई देने लगा था, हरीश मुझे द्रोणाचार्य घोषित न करो।'

मैं सन्न रह गया था। सन्न रह जाता हूँ। ऐसा निश्छल, सदाचारी, सौम्य और शालीन व्यक्तित्व क्या कभी किसी एकलव्य का अंगूठा माँग सकता है? कदापि नहीं। वह तो शिष्य का हाथ थामने के लिए सदा अपना सबल हाथ बढ़ाता है। बढ़ाता रहेगा। वे विशेष हैं, वे नरेंद्र कोहली नहीं, सच में दि नरेंद्र कोहली ही हैं।

❑❑❑

65, साक्षरा अपार्टमेंट, ए-3 पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063। **Email:** harishnaval@gmail.com

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

सदस्यता फार्म

नाम .....

पता .....

.....

.....

फोन ..... मोबाइल ..... ई-मेल .....

एक वर्ष: ₹ 300

तीन वर्ष: ₹ 750

दिनांक: .....

हस्ताक्षर: .....

शुल्क '**SAHITYA YARTA**' के नाम पर इस पते पर भेजें-

'अभ्युदय'

ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001

बिहार

महासमर का प्रत्यक्ष-भक्ति उपन्यासों का आरंम्भ

● प्रेम जनमेजय

कोई अपने पूर्वाग्रहों अथवा दुराग्रहों के कारण स्वीकार न करे, पर हिंदी का विशाल पाठक वर्ग नरेंद्र कोहली की कृति 'महासमर' के प्रत्येक खंड की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता है। प्रख्यात कथा पर आधारित होने के बावजूद इस औपन्यासिक शृंखला में नरेंद्र कोहली ने चिंतन, विचार, दर्शन, तर्क, भक्ति तथा औत्सुक्य का जो समन्वय प्रस्तुत किया है, वह नरेंद्र कोहली को भारतीय उपन्यासकारों की भीड़ से एकदम अलग खड़ा करता है। उनका यही विशिष्टता तथा उनका सजग पाठक वर्ग समकालीन हिंदी साहित्य में व्याप्त साम्प्रदायिक आलोचना को करारा जवाब देता है।

महाभारत की कथा पर आश्रित 'महासमर' का सातवां खंड 'प्रत्यक्ष' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है । पिछले खंड का नाम 'प्रच्छन्न' था । उसमें काफी कुछ गोपनीय था। इस खंड को पढ़ने पर लगता है जैसे धीरे-धीरे सब कुछ प्रत्यक्ष होता जा रहा है । सत्य और धर्म की स्थापना के लिए महाभारत का जो युद्ध लड़ा गया, प्रच्छन्न तक वह तैयारी के रूप में आता है परन्तु इस खंड में आकर समस्त परिस्थितियाँ जैसे स्पष्ट होने लगती हैं। इस औपन्यासिक शृंखला के नायक समय-समय पर बदलते रहे हैं। पूरी औपन्यासिक शृंखला के नायक तो युधिष्ठर ही हैं पर कहीं भीष्म नायक दिखाई देते हैं तो कहीं अर्जुन नायक दिखाई देते हैं। प्रत्यक्ष के नायक कृष्ण हैं। इस खंड में कृष्ण का देवत्व, पांडवों की कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति यादवों की आपसी कलह, दुर्योधन की शांति तथा मानवीय मूल्यों के प्रति उदासीनता, कर्ण का दुष्ट-चरित्र, भीष्म की विवशता आदि अनेक पक्ष प्रत्यक्ष होकर पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हैं। 'प्रत्यक्ष' की कथा का आधार महाभारत का वह प्रसंग है जहाँ पांडव युद्ध को अवश्यंभावी मानकर अपने मित्रों से युद्ध के लिए सहायता मांगते हैं। महाभारत का युद्ध आरम्भ होता है और भीष्म एक क्षत्रिय की मृत्यु चाहते हैं। इस खंड की कथा का आरम्भ युद्ध की तैयारियों के बीच अभिमन्यु उत्तरा विवाह से होता है । उद्धव के माध्यम से कृष्ण कथा चलती है। यादवों का

उसमें काफी कुछ गोपनीय था। इस खंड को पढ़ने पर लगता है जैसे धीरे-धीरे सब कुछ प्रत्यक्ष होता जा रहा है । सत्य और धर्म की स्थापना के लिए महाभारत का जो युद्ध लड़ा गया, प्रच्छन्न तक वह तैयारी के रूप में आता है परन्तु इस खंड में आकर समस्त परिस्थितियाँ जैसे स्पष्ट होने लगती हैं। इस औपन्यासिक शृंखला के नायक समय-समय पर बदलते रहे हैं।

सत्ता मोह उभरकर सामने आता है। युद्ध में सहायता के लिए अर्जुन और दुर्योधन कृष्ण के पास जाते हैं। कृष्ण दुर्योधन के समक्ष संधि-प्रस्ताव रखते हैं और कौरव उन्हें कैद करने की योजना बनाते हैं। युद्ध आरम्भ होता है। अर्जुन गांडीव छोड़कर बैठ जाता है। भीष्म को कौरवों का सेनापति बनाया जाता है। भीष्म एक तरह से आत्म समर्पण करते हैं। महाभारत की इस कथा को नरेंद्र कोहली ने अनेक प्रश्नों के साथ प्रस्तुत किया है। जो कृष्ण निरंतर पांडवों को मना रहे हैं कि वे उन्हें अनुमति दें और कृष्ण यादव सेना द्वारा दुर्योधन को पराजित कर पांडवों को उनका अधिकार दिला दें, वही कृष्ण इस शृंखला में उपल्व्य छोड़कर द्वारका चले जाते हैं और पांडवों को उनसे सहायता मांगने के लिए द्वारका जाना पड़ता है। जिस युधिष्ठिर के लिए युद्ध होना है, वही हताश हैं, युद्ध नहीं करना चाहता है। युद्ध की भूमि में अर्जुन अपना गांडीव क्यों त्याग देता है? नरेंद्र कोहली ने इन प्रश्नों को ध्यान में रखकर प्रत्यक्ष में जिस कथा को प्रस्तुत किया है उससे यही लगता है कि युद्ध पांडव नहीं कर रहे हैं अपितु कृष्ण कर रहे हैं। महाभारत का सम्पूर्ण युद्ध कृष्ण नामक धुरी के चारों ओर घूमता है।

इस खंड की समस्त कथा पांडवों की कम लगती है कृष्ण की अधिक लगती है। इस खंड के नायक कृष्ण ही हैं। नरेंद्र कोहली ने उद्धव के माध्यम से कृष्ण जन्म से लेकर उनके जीवन की अन्य अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं को उपन्यास का अंग बना दिया है। उद्धव इस खंड में एक कथावाचक की भूमिका के रूप में उपस्थित दिखाई देते हैं। रामकथा पर आधारित होने के बावजूद नरेंद्र कोहली ने 'अभ्युदय' को रामभक्ति से वंचित रखा था। वहाँ राम एक महामानव के रूप में चित्रित हुए हैं जिनमें कर्म चिंतन और शक्ति का अद्‌भुत समन्वय है। परन्तु महाभारत के कृष्ण मात्र महामानव ही नहीं हैं, उनका नारायणी रूप भी उभरा है। इसी संदर्भ में अपनी शंका के समाधान के लिए एक साक्षात्कार के समय मैंने नरेंद्र कोहली से एक प्रश्न किया था-''आपने राम-कथा का सृजन करते समय राम को एक महामानव के रूप में चित्रित किया है। राम में कर्म और चिंतन का अद्‌भुत समन्वय है और वह आदिम अवस्था में जी रहे मनुष्यों को रावण की राक्षसी संस्कृति के विरुद्ध संगठित करते हैं। उनके लिए चौदह वर्ष का वनवास एक सुअवसर है जिसका लाभ उठाकर वे संगठन के द्वारा राक्षसी संस्कृति को समाप्त कर सकते हैं। रामकथा के बाद आपने महाभारत पर आधारित उपन्यास शृंखला 'महासमर' का सृजन किया है। 'महासमर' में कृष्ण का चरित्र भी एक महामानव का ही है अथवा ईश्वर का?'' इसके उत्तर में नरेंद्र कोहली ने कहा था - ''इस बीच बहुत समय बीता है। सृजन से लेखक अपना विकास भी करता है और परिस्थितियों के कारण उसमें वैचारिक परिवर्तन भी होता है। व्यक्ति के रूप में कृष्ण को नारायण मानने में मुझे कोई समस्या नहीं है, परन्तु एक उपन्यासकार के रूप में मेरी सम्वेदना अभी इतनी समर्थ नहीं हुई कि कृष्ण को उपन्यास में पूर्ण नारायण के रूप में चित्रित कर सकूँ । मैंने कृष्ण की असाधारण क्षमताओं का निषेध नहीं किया है। उन्हें एक साधारण मानव के रूप में चित्रित नहीं किया है। अपितु उनके सगे सम्बन्धियों तथा आसपास के लोगों के माध्यम से एक संशय छोड़ा है कि कृष्ण जो कर रहा है वह किसी साधारण मानव का कार्य नहीं है। तो कृष्ण क्या है, एक साधारण मानव या कुछ और? कुछ लोग उन्हें तांत्रिक मानते हैं, कुछ समर्थ ऋषि मानते हैं। संशय सभी के मन में है। मैं यदि सूर अथवा तुलसी की तरह समर्थ होता तो उन्हें नारायण रूप में चित्रित करने की बात सोचता। एक तो मेरी अनुभूति उस रूप में समर्थ नहीं है और दूसरे मेरा पाठक कविता का नहीं, उपन्यास का पाठक है।.....व्यक्तिगत रूप में कृष्ण को नारायण मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, पहले नहीं मानता था, अब मान गया

हूँ। परन्तु इसके कारण मेरी बौद्धिक तार्किकता समाप्त हो गयी हो, ऐसा भी नहीं है। वह कुछ और अधिक प्रौढ़ होकर आई है। मनुष्य को चित्रित करना मेरे लिए सरल है, क्योंकि मनुष्य को मैं जानता हूँ, परन्तु नारायण को मैं अभी जानता ही कितना हूँ कि उनको सही रूप में चित्रित कर सकूँ। यह मेरी अक्षमता है, हो सकता है कि आगे चलकर यह क्षमता मुझमें विकसित हो जाए और मैं नारायण का भी चित्रण कर सकूँ। दूसरी ओर जिस विधा में और जिन लोगों को यह विचार दे रहा हूँ, उनकी वेव लैंग्थ क्या है और वे इसको ग्रहण कर सकते हैं कि नहीं, एक अवचेतन दबाव उसका भी होता है। इसलिए तुम्हारी बात सही है कि राम के चरित्र का चित्रण और कृष्ण का चरित्र चित्रित करने में मुझमें पर्याप्त अंतर आ गया है। तब मैं आध्यात्मिक रूप में उतना सजग नहीं था। केवल सांसारिक दृष्टि से ही जो राजनीति, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा इतिहास है, के आधार पर लिखा है। इस बीच मेरे सोचने-समझने, अनुभूतियों और दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर आया है।''

नरेंद्र कोहली ने सही कहा कि कृष्ण को नारायण रूप में स्वीकार करने के बावजूद उनकी तार्किक बौद्धिकता समाप्त हो गई हो, ऐसा नहीं है। 'प्रत्यक्ष ' में कृष्ण-जन्म के प्रसंग को जिस रूप में नरेंद्र कोहली ने प्रस्तुत किया है उससे तो यही लगता है कि लेखक का तर्क के प्रति अतिरिक्त आग्रह है। कृष्ण-जन्म के समय होने वाली चमत्कारिक घटनाओं को लेखक ने विराम दे दिया है। नरेंद्र कोहली का मानना है कि ''उस समय मथुरा तथा वृन्दावन में इतनी बाढ़ आ गयी थी, इतने साँप आदि आ गये कि सभी को अपना घरबार बचाने की चिंता प्रमुख हो गयी। ऐसे में कंस के पहरेदार भी अर्द्धरात्रि में अपने घरबार को बचाने चल दिए तथा अपने कर्त्तव्य के प्रति असावधान हो गए। वर्षा का आना कोई असाधारण बात नहीं है और न ही उसके कारण बाढ़ का आना असाधारण बात है। इससे वसुदेव को आधार मिल गया कि वे कृष्ण को गोकुल ले जा सकें। ऐसी प्राकृतिक आपदा में न तो उन्हें नंद के यहाँ किसी ने जाते देखा और न ही नंद के यहाँ किसी ने वसुदेव को देखा।''

महासमर में पाठकों का कृष्ण से साक्षात्कार अनेक रूपों में होता है। कहीं वो अश्वों की सेवा कर रहे हैं, कहीं वो सैनिकों को प्रशिक्षण दे रहे हैं, कहीं किसी संन्यासी से कुटिया में अध्यात्म की चर्चा कर रहे हैं तथा कहीं एक योगी के रूप में ध्यानस्थ दिखाई देते हैं। समस्त संघर्षों में कभी कृष्ण अकेले भी दिखाई देते हैं- ''कृष्ण एक विचित्र मन:स्थिति में थे। उन्हें लग रहा था कि उनके हाथ पैर बांधकर उन्हें एक ओर डाल दिया गया है।.....सहसा कृष्ण को लगा कि उन्हें पता ही नहीं चला कि वे कब इतने अकेले हो गए हैं। यादवों में परिवर्तन तो आ ही रहा था, किंतु वे उनके लिए इतने पराए हो जाएँगे, ऐसी आशंका उनके मन में जन्मी ही नहीं थी।'' ऐसे प्रसंगों में कृष्ण एक सहज मानव के रूप में चित्रित होते हैं। पर जब कृष्ण उद्धव से कहते हैं, ''मेरे प्राण ही उनके भीतर नहीं बसते, वे सब भी मेरे भीतर बसते हैं।'' तो उनका नारायणी रूप प्रत्यक्ष हो उठता है। कृष्ण के चरित्र और कार्यों को नरेंद्र कोहली ने उद्धव के माध्यम से बहुत सशक्त रूप में अभिव्यक्त किया है। एक स्थान पर उद्धव कहते हैं। ''श्रीकृष्ण के कार्य किसी श्रेष्ठ कवि की रचना के समान होते हैं, जिनसे अनेक अर्थ ध्वनित हैं और प्रत्येक व्यक्ति उनका अर्थ अपनी क्षमता, आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार ही समझता है। कृष्ण चरित्र को समझने की इसी कठिनाई के कारण संभवत: नरेंद्र कोहली कहीं उन्हें श्रीकृष्ण कहते हैं और कहीं मात्र कृष्ण।

इस खंड की एक सबसे बड़ी खूबसूरती है कि नरेंद्र कोहली ने अर्जुन को कृष्ण द्वारा दिए गए गीता उपदेश को एक स्थल पर ही व्याख्यायित नहीं किया है। पूरे उपन्यास में जहाँ भी अवसर मिलता है कृष्ण गीता का ज्ञान देते हैं। वस्तुतः इस प्रकार गीता रहस्य को पाठकों के समक्ष लाने के पीछे नरेंद्र कोहली का यह उद्देश्य है कि गीता तो जीवन जीने की प्रक्रिया है, जीवन के हर मोड़ पर उसकी आवश्यकता है, इसलिए किसी एक स्थान पर उसे सीमित नहीं किया जा सकता है। उपन्यास के विभिन्न स्थलों पर कृष्ण के माध्यम से कुछ ज्ञान-वाक्य प्रस्तुत हैं।

''अपनी पत्नी हो, अपना भाई हो अथवा अपना पिता-किसी के लिए भी धर्म के मार्ग को अवरुद्ध करना पाप है।''

''धर्म व्यापक मानवता के हित में होता है। प्रकृति के नियमों के अनुकूल होता है।''

''अज्ञान के तिमिर में नयन खुल जाएँ तो वह जागरण नहीं होता है धनंजय। जागरण के लिए तो ज्ञान के सूर्य की प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है।''

''किसी दूसरे के राज्य को छीनना अधर्म है, चाहे वह युद्ध के माध्यम से ही क्यों न छीना गया हो। द्यूत के माध्यम से तो किसी के राज्य छीनने की कल्पना भी अधर्म है।''

''आप जिसे धर्म समझ रहे हैं, वह आपका बंधन मात्र है। धर्म बांधता नहीं मुक्त करता है। धर्म और मोह का निर्वाह एक साथ नहीं हो सकता।''

ऐसे अनेक ज्ञान-वाक्यों से उपन्यास समृद्ध है।

नरेंद्र कोहली ने पांडवों और कौरवों की राजनीति के माध्यम से समकालीन राजनीति की समुचित व्याख्या की है। आधुनिक राजनीति में जो विसंगतियाँ हैं उन पर प्रहार ही नहीं किए हैं अपितु उनके विरुद्ध पाठकों में आक्रोश का भाव भरा है। जब कृष्ण भीष्म से कहते हैं, ''जो राजा की रक्षा का दायित्व ग्रहण करता है, उसे यह देखने और विचारने का अधिकार नहीं रहता कि सिंहासन पर बैठा व्यक्ति राजा नहीं दस्यु है। वह तो सिंहासनासीन की रक्षा करता है। मैं जब क्षत्रियों को राक्षस बनते और दस्युओं की रक्षा करते देखता हूँ तो मुझे उन पर बहुत दया आती है।'' ऐसा लगता है भारतीय समकालीन राजनीति हमारे सामने प्रत्यक्ष हो गई हो।

कृष्ण के चरित्र, अध्यात्म चर्चा, धर्म की व्याख्या आदि संदर्भों को पढ़कर मुझे इस उपन्यास को भक्ति उपन्यास कहने का मन होता है। भक्ति की वह सशक्त धारा जो मध्यकाल में प्रवाहित हुई थी और बीच में अवरुद्ध हो गई, इस उपन्यास के माध्यम से लगता है जैसे पुनः प्रवाहित होना चाहती है। मध्यकाल में काव्य ने भक्ति को समाज में प्रकट किया था, महासमर उस प्रवृत्ति को उपन्यास के माध्यम से प्रत्यक्ष कर रहा है। इस रूप में 'प्रत्यक्ष' मुझे महासमर का एक खंड लगता हुआ भी एक अलग उपन्यास के रूप में भी दिखाई देता है।

❑❑❑

73 साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

नरेन्द्र कोहली : जैसे मैंने जाना

● नरेश शांडिल्य

डॉ० नरेन्द्र कोहली अपने युग के बहुत बड़े रचनाकार हैं। बहुचर्चित उपन्यासकार, कथाकार, व्यंग्यकार के रूप में उनकी शख्सियत लोकप्रियता की सरहदें लाँघ चुकी है। सौंकड़ों किताबें उनकी झोली में हैं और वे सबसे ज्यादा रॉयल्टी लेने वाले हिन्दी के अद्‌भुत, असाधारण और अनूठे लेखक के रूप में जाने और माने जाते हैं।

उनकी कृति 'दीक्षा'; 'तोड़ो कारा तोड़ो' और 'महासमर' के कुछ खण्डों को मैंने जब पढ़ा तो मैं उनकी लेखनी का मुरीद हो गया। यहाँ 'मुरीद' की जगह 'कायल' भी कहा जा सकता था, लेकिन मैं उनकी लेखनी का कायल नहीं, मुरीद ही हूँ। हाँ, उनके व्यक्तित्व का कायल जरूर हूँ। दरअसल, शब्दों को लेकर कोहलीजी का अपना आग्रह रहता है; और वह भी जिद्‌दी किस्म का। हालाँकि वे अपनी जगह ठीक ही होते हैं। लेकिन मैं मानता हूँ कि हर लेखक की अपनी 'वोकाब्यूलरि' होती है अर्थात् उसका अपना शब्दभंडार होता है। अपना शब्द सामर्थ्य होता है। और उसी की बदौलत वह जाना जाता है अथवा उसकी अलग से पहचान होती है। उनसे जुड़े कुछ रोचक प्रसंगों का ज़िक्र मैं जरूर करूँगा।

आदरणीय नरेन्द्र कोहली जी से मेरी पहली व्यक्तिगत भेंट 1995 में मित्र अनिल जोशी के साथ हुई थी। प्रसंग था–मेरी पहली कविता–पुस्तक 'टुकड़ा–टुकड़ा ये जिन्दगी' प्रकाश में आई थी। हालाँकि, उस समय मेरी पहचान साहित्य के क्षेत्र में प्राय: नगण्य थी, फिर भी इतने बड़े साहित्यकार से मिलने और अपनी किताब भेंट करने में मुझे कतई झिझक नहीं हुई। मैंने सादर उन्हें अपना कविता–संग्रह भेंट किया। उन्होंने किताब हाथ में लेते ही कहा कि 'टुकड़ा–टुकड़ा ये जिन्दगी' में 'ये' क्या है? 'ये' की

उस समय मेरी पहचान साहित्य के क्षेत्र में प्राय: नगण्य थी, फिर भी इतने बड़े साहित्यकार से मिलने और अपनी किताब भेंट करने में मुझे कतई झिझक नहीं हुई। मैंने सादर उन्हें अपना कविता–संग्रह भेंट किया। उन्होंने किताब हाथ में लेते ही कहा कि 'टुकड़ा–टुकड़ा ये जिन्दगी' में 'ये' क्या है? 'ये' की जगह तो 'यह' होना चाहिए। मैंने तुरंत कहा कि 'ये' भी प्रचलन में है और इस अंश को मैंने अपनी गज़ल की पंक्ति से लिया है।

जगह तो 'यह' होना चाहिए। मैंने तुरंत कहा कि 'ये' भी प्रचलन में है और इस अंश को मैंने अपनी गज़ल की पंक्ति से लिया है। गज़लों में प्राय: यह को 'ये', वह को 'वो' लिखने का ही प्रचलन है। बस मेरा इतना कहना था कि वे आपे से बाहर हो गए। मैं मुँह लटकाए सब कुछ सुनता रहा। बाद में और बातें भी चलती रहीं। फिर अचानक उन्होंने मेरी किताब के पन्ने उलटने-पलटने शुरू किए। एक जगह रुक कर उन्होंने कविता की किसी पंक्ति में आए शब्द पर सवाल उठाया। मैंने संकोचवश कुछ नहीं कहा तो वे मुझे इस पर सफाई के लिए लगभग बाध्य करने लगे। मैंने कुछ झिझकते हुए कहा कि कविता में कुछ 'सहूलियतें' लेने का भी रिवाज रहा है ..... तुलसी दासजी ने भी 'रामचरितमानस' में राम को कई जगह (भाषागत सहूलियत लेते हुए) 'रामा' और यहाँ तक कि 'रामू' भी कहा है। बस ..... फिर क्या था? आप समझ सकते हैं कि वहाँ क्या दृश्य उपस्थित हुआ होगा? उन्होंने 'शालीनता' से मुझे जितनी डाँट पिलाई, मैं 'अमृत' समझकर सब पी गया। लेकिन उनकी कही एक पंक्ति मेरे दिमाग में आजतक कौंधती रहती है- "मैंने भी 250 से ज्यादा कविताएँ लिखी होंगी .... तुम क्या समझते हो, मुझे कविता की समझ नहीं है ....।" उनके निवास से जब हम बाहर आए तो अनिल जोशी कुछ देर तक मुझे उनके कहे का मतलब समझाते रहे।

हालाँकि मैं आज भी नरेन्द्र कोहलीजी के किसी कविता-संग्रह के प्रकाशन के इंतजार में हूँ ..... फिर भी उनके कहने के 'अर्थात्' को समझते हुए मैं इतना तो अवश्य ही कहूँगा कि भाषा के आदर्श-स्वरूप को लेकर एक लेखक इतना आग्रही हो सकता है, यह बात यकीनन गौरतलब है, प्रशंसनीय है और अनुकरणीय भी। हमें अपनी भाषा को लिखते और बोलते हुए भाषा की 'शास्त्रीयता' को भी अवश्य ही ध्यान में रखना चाहिए।

इसी कड़ी में एक रोचक प्रसंग और ध्यान में आ रहा है। किसी उभरती कवयित्री (नाम बताना ठीक नहीं रहेगा) के पुस्तक-लोकापर्ण का कार्यक्रम था। नई दिल्ली के मावलंकर सभागार में। डॉ० नरेन्द्र कोहली कार्यक्रम में अध्यक्षता के लिए अथवा पुस्तक के लोकार्पण के लिए उपस्थित थे। वहाँ मैं भी श्रोता के रूप में उपस्थित था। कार्यक्रम ठीक-ठाक चल रहा था ..... कोहलीजी को सुनने का मन था ..... मैं बैठा रहा। कोहलीजी ने पुस्तक पर बोलना प्रारम्भ किया। बोलते-बोलते एक-एक कर कविताओं की 'निर्मम' समीक्षा करने लगे .... सब अवाक् थे ... लोकार्पण का कार्यक्रम है या किताब की समीक्षा का? और एक नये रचनाकार की पहली-पहली पुस्तक की इतनी सख्त आलोचना ... धज्जियाँ बिखेर कर रख दी किताब की ..... मैंने अचानक देखा कि जिस कवयित्री की किताब है वह सुबक-सुबक कर रो रही है। कोहलीजी के इस 'व्यवहार' पर मैं इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहूँगा .....। एक प्रश्न यहाँ जरूर उठता है-एक नये लेखक के प्रति इस प्रकार का 'ट्रीटमेंट' कितना जायज है? मेरा एक विनम्र निवेदन है-एक स्थापित और वरिष्ठ लेखक को एक उभरते और कनिष्ठ लेखक के प्रति 'दुर्वासीय' नहीं, अपितु 'विश्वामित्रीय' दृष्टिकोण रखना चाहिए।

उनके साथ दो-तीन लम्बी यात्रा के अनुभव भी रहे। एक बार कार में दिल्ली से हापुड़; एक बार दिल्ली से डबई (उ० प्र०) और एक बार ट्रेन से सोपाल (म० प्र०) जाते हुए उनके व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं को जानने का सुअवसर मिला। जब हम डबई जा रहे थे तो उन्होंने मुझसे मेरी नयी किताब के बारे में पूछा .... संयोग से मैं अपनी कुछ किताबें साथ लेकर जा रहा था। मैंने अपने दोहा संग्रह 'कुछ पानी कुछ आग' और गज़लसंग्रह 'सदियों की प्यास' की एक-एक प्रति उन्हें भेंट की। जब उन्होंने उन किताबों के पन्ने पलटने शुरू किए तो मुझे अपनी पहली पुस्तक वाला प्रसंग भी ध्यान आने लगा ....। मैं उनकी डाँट-डपट सुनने के लिए मन बनाए बैठा था कि अचानक वे बोले ..... नरेश, अब तो तुम्हारी भाषा में बहुत सुधार है ....। सुनते ही मेरी जान में जान आई। इतना तो तय है कि वे किसी को यूँही प्रसन्न करने के लिए कुछ नहीं कहते। वे भीतर-बाहर दोनों तरह से अपना रौब रखते हैं।

मैंने पहले भी जिक्र किया है कि वे सबसे ज्यादा रॉयल्टी लेने वाले हिन्दी के लेखक हैं। प्रकाशकों पर भी उनका खूब रौब रहता है। रहे भी क्यों ना? यह सब मैंने स्वयं देखा-सुना है। बात नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा आयोजित एक पुस्तक मेले की है। एक बड़े प्रकाशक के स्टॉल के भीतर ज्योंही वे प्रवेश करने को हुए त्यों ही मैंने देखा कि वहाँ मौजूद उस प्रकाशक ने उनकी किताबों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर सामने की ओर लगाना शुरू कर दिया। एक हिन्दी लेखक के रौब के ऐसे जलवे को देखकर मुझे सचमुच बड़े गर्व की अनुभूति हुई। मुझे उस समय रामलीलाओं में दिखाए जानेवाले 'धनुष-भंग' के दृश्य में आने वाले उस प्रसंग की याद आने लगी जब धनुष-भंग के बाद परशुराम का प्रवेश होता है कि कैसे परशुराम के प्रवेश करते ही सभा में उपस्थित राजाओं के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं और वे परिचय देते हुए अपने-अपने नाम के साथ अपने-अपने पिता का नाम भी बताने लगते हैं। डॉ० नरेन्द्र कोहली के आव-भाव और चाल-ढाल से भी ऋषि परशुराम जैसा ही रौब-रूआब झलकता है। हिन्दी को गर्व होना चाहिए कि उसके पास एक ऐसा रौबीला लेखक भी है जिसके आगे 'प्रकाशकों' तक की घिग्घी बँध जाती है।

कुछ भी हो; उनके व्यावहारिक-पक्ष को लेकर हम कितना भी सहमत-असहमत क्यों न हों; यह निर्विवाद है कि वे हिन्दी जगत के अत्यंत-असाधारण श्रेणी के प्रखर लेखकों में से एक हैं। कम से कम वे हिन्दी के 'ढ़ीले' 'लिजलिजे', 'पिलपिले' अथवा 'दब्बू' किस्म के लेखकों में से नहीं हैं। अपने इसी मिजाज और चुस्त-दुरुस्त प्रभावी लेखन के बाल पर डॉ० नरेंद्र कोहली लेखकों की भीड़ में अलग से पहचाने जाते हैं। उनके पूरे लेखन में उनके मौलिक-तर्कों की ताकत अन्तरधारा के रूप में प्रवाहित है। इसीलिए और केवल इसीलिए एक साथ मैं उनके लेखन का मुरीद और उनके व्यक्तित्व का कायल हूँ।

❑❑❑

ए-5, मानव राम पार्क, सण्डे बाजार रोड, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059
मोबाईल: 9868303565/97117149601 Email: nareshhindi@yahoo.com

व्यंग्य उपन्यासों के क्षेत्र के सन्नाटे को तोड़ने की सार्थक कोशिश

● सुभाष चंदर

हिन्दी में व्यंग्य उपन्यासों की स्थिति हमेशा से चिन्ताजनक रही है। यहाँ बमुश्किल पचास व्यंग्य उपन्यास हैं जिनमें स्तरीय रचनाओं की संख्या तो उँगलियों के पोरों पर गिने जाने लायक है। यह स्थिति तब है कि जब पहला व्यंग्य उपन्यास सौ साल से भी पहले प्रकाशित हो चुका है। भगवानदास बी. ए. के 1905 में प्रकाशित व्यंग्य उपन्यास 'उर्दू बेगम' ने व्यंग्य की किशोरावस्था में ही इस उपविधा के फलने-फूलने के संकेत दिये थे। साथ ही उसने गद्य व्यंग्य के लेखकों के समक्ष इस परम्परा को आगे बढ़ाने की चुनौती भी प्रस्तुत की थी। पर व्यंग्यकारों के एक बड़े वर्ग ने इस चुनौती से बचने की ही कोशिश अधिक की। इसके पीछे के कारणों का विश्लेषण किया जाए तो हम पाते हैं कि अपनी शक्तियों और सीमाओं के आकलन, कथ्यानुरूप व्यंग्य माध्यम चुनने की सीमा, आत्मतोष और सबसे बढ़कर विस्तार से बचने की प्रवृत्ति आदि कारकों ने हिन्दी को व्यंग्य उपन्यासों की दृष्टि से समृद्ध नहीं होने दिया। वैसे भी व्यंग्य उपन्यास का लेखन बेहद जटिल प्रक्रिया है। सामान्य गद्य की तुलना में जहाँ व्यंग्य अतिरिक्त भाषाई अनुशासन और विशिष्ट शैली की माँग करता है, वहीं व्यंग्य उपन्यास, इस कड़ी की जटिलतम व्यवस्था होने के कारण, कथ्य के निर्वाह से लेकर शैलीगत चातुर्य और साथ ही हास्य, वक्रोक्ति, वाग्वैदग्ध्य, ताना, कूटोक्ति जैसी भाषिक शक्तियों का बृहद् स्तर पर सन्तुलन अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है जिससे अधिकांश व्यंग्य लेखक बचने का ही प्रयास करते हैं। यह कार्य उच्च व्यंग्य कौशल की माँग करता है जिसमें बिरले ही सफल हो पाते हैं। यही कारण है कि कई बार

यहाँ बमुश्किल पचास व्यंग्य उपन्यास हैं जिनमें स्तरीय रचनाओं की संख्या तो उँगलियों के पोरों पर गिने जाने लायक है। यह स्थिति तब है कि जब पहला व्यंग्य उपन्यास सौ साल से भी पहले प्रकाशित हो चुका है। भगवानदास बी. ए. के 1905 में प्रकाशित व्यंग्य उपन्यास 'उर्दू बेगम' ने व्यंग्य की किशोरावस्था में ही इस उपविधा के फलने-फूलने के संकेत दिये थे।

उपन्यासोचित कथ्य को भी लेखक व्यंग्य कथा में निपटा देते हैं। डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी ने अपने चर्चित व्यंग्य उपन्यास 'बारामासी' की भूमिका में लिखा भी है कि ''व्यंग्य उपन्यास लिखना रस्सी पर नट की तरह चलने के समान है जहाँ जरा-सी भी शिथिलता आपको गिरा सकती है। मतलब कृति के प्रभाव को कमजोर कर सकती है।'' सही बात है कि प्रसंग वक्रता, शैली और कथ्य के निर्वाह का आद्योपान्त सन्तुलन इस उपविधा को जटिलतम की संज्ञा देता है। यही कारण है कि हिन्दी में व्यंग्य उपन्यासों की बेहद कमी है। इस सबके बावजूद कुछ प्रतिभाशाली व्यंग्यकारों ने इन जटिल चुनौतियों को स्वीकार करते हुए कुछ श्रेष्ठ व्यंग्य उपन्यासों का सृजन किया है जिनमें नरेन्द्र कोहली भी एक हैं।

डॉ. नरेन्द्र कोहली की सर्वाधिक ख्याति उनके पौराणिक उपन्यासों के लेखक होने के कारण है। रामकथा और कृष्णकथा के अतिरिक्त उन्होंने स्वामी विवेकानन्द जैसे युगपुरुषों के जीवन चरित को भी अपनी औपन्यासिक कृतियों का आधाार बनाया है। युगबोध, आदर्शों की स्थापना, मिथकों का मानवीय दृष्टि से प्रस्तुतीकरण, पौराणिक चरित्रों का आधुनिक दृष्टि से मानवीकरण और उनके कार्य-कलापों की ऐसी प्रस्तुति कि नयी पीढ़ी को उनसे प्रेरणा मिल सके, ऐसे सभी उद्देश्यों को लेकर आयी उनकी कृतियों ने अपना एक विशाल पाठक वर्ग तैयार किया है, जो उनकी औपन्यासिक कृतियों को खोज-खोजकर पढ़ता है। कई दशकों की उनकी इस लेखन तपस्या ने उन्हें आज हिन्दी के सर्वाधिक पढ़े जाने वाले साहित्यिक लेखक की उपाधि प्रदान की है जो किसी के लिए भी ईर्ष्या का विषय हो सकती है।

इस सबके अलावा भी नरेन्द्र कोहली ने विपुल मात्र में साहित्य रचा है। जहाँ तक मुझे याद है कविता को छोड़कर हर विधा में उन्होंने लिखा है। कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र शायद ही उनकी कलम से कुछ छूटा होगा। सैकड़ों चर्चित कृतियों के रचनाकार नरेन्द्र कोहली ने व्यंग्य साहित्य को समृद्ध करने में भी अपना विशिष्ट योगदान दिया है। इस बात की गवाही उनके दर्जनों व्यंग्य संग्रह, 'शम्बूक की हत्या' जैसे व्यंग्य नाटक और 'पाँच एब्सर्ड उपन्यास' जैसी रचनाएँ बखूबी देती हैं। विशेषकर 'पाँच एब्सर्ड उपन्यास' का एक खंड 'अस्पताल', जो अपने आप में एक पूर्ण उपन्यास है, तो व्यंग्य साहित्य की अद्‌भुत रचना है। मैंने जितना देशी-विदेशी व्यंग्य साहित्य पढ़ा है, उसमें 'अस्पताल' कारुणिक व्यंग्य कृति के रूप में अप्रतिम है। सरकारी अस्पताल की अव्यवस्थाओं, वहाँ के कर्मचारियों के अमानवीय व्यवहार और अस्पताल में भर्ती मरीजों और उनके तीमारदारों की विवशताओं को उकेरती यह व्यंग्य कृति ऐसे व्यंग्य की सृष्टि करती है जो अन्तस् को अन्दर तक बिंध डालता है। मेरा मानना है कि ऐसी अद्‌भुत कारुणिक व्यंग्य कृति किसी अन्य भाषा में अभी तक उपलब्ध नहीं है। इस कृति के लिए व्यंग्य साहित्य नरेन्द्र कोहली का सदैव ऋणी रहेगा।

अब बात इस व्यंग्य उपन्यास 'देश के हित में' की। सच कहूँ तो 'देश के हित में' पारम्परिक व्यंग्य उपन्यासों से बहुत अलग है, कथ्य के स्तर पर और उसके प्रस्तुतीकरण के स्तर पर भी। यह कृति अपनी एब्सर्डिटी के कारण 'पाँच एब्सर्ड उपन्यास' का एक विस्तार होने की प्रतीति देती है। सीधी-सादी और कभी-कभी अस्वाभाविक स्थितियों/घटनाक्रमों को दर्शाती इस रचना में बहुत ही सूक्ष्म प्रतीक छिपे हैं, एक एब्सर्डिटी छिपी है जो सजग पाठक ही पकड़ सकते हैं अन्यथा सामान्य पाठक तो इसकी चुटीली भाषा, प्रसंग वक्रता और शिल्प के अनूठे प्रयोगों पर ही वाह-वाह करके सिमट सकता है। यह कृति स्वयं को एक खोजी दृष्टि से पढ़ने की माँग करती है ताकि अस्वाभाविक और अतिनाटकीयता से भरपूर घटनाक्रमों में छिपे प्रतीकों को, विसंगतियों को, उनपर बेहद सावधानी भरे कौशल से किये गये सूक्ष्म प्रहारों को पहचान सके, उनमें छिपे संकेतों को समझ सके। ऐसा नहीं है कि पूरी कृति में परोक्षता का ही वर्चस्व है, कई स्थानों पर लेखक ने अपरोक्ष प्रहारात्मकता को भी प्रश्रय दिया है ताकि कृति गम्भीर पाठकों के साथ सामान्य पाठकों को भी लुभा सके।

अब इस कृति की कथावस्तु पर। ललित खन्ना एक सरकारी दफ्तर में बड़ा बाबू है। उसकी पत्नी बीमा कराने का कार्य करती है। उपन्यास पति-पत्नी की हल्की-फुल्की चुहलबाजियों से शुरू होता है। फिर उसके दफ्तर में रामलुभाया और उसकी पत्नी दमयन्ती का प्रवेश होता है। रामलुभाया अपनी भविष्य निधि का नॉमिनी अपनी पत्नी को बनाना चाहता है। सरकारी खानापूरियों के मकड़जाल में वह बुरी तरह उलझ जाता है, जहाँ से 'बात में से बात, बात में से बात' की तर्ज पर एक के बाद एक उलझाव बढ़ते जाते हैं और व्यंग्य की बेल लहलहाने लगती है। पति-पत्नी के मधुर सम्बन्धों में भविष्य की यह निधि ऐसी गाँठ डाल देती है जो उपन्यास के अन्त तक नहीं खुलने पाती। नाटकीयता से भरपूर ये प्रसंग पाठक को हँसने पर तो विवश करेंगे ही, साथ ही उसे सोचने का मसाला भी देंगे। हँसाते-हँसाते तीखी चुटकी काटने की यह शैली कमोबेशी कृति के साथ-साथ चलती रहती है। अतिनाटकीयता और अस्वाभाविक प्रसंगों तथा शाब्दिक उलझावों के बीच लेखक, व्यंग्य के सजग पाठकों के लिए कुछ संकेत छोड़ता चलता है, जो पाठक उन संकेतों की पहचान कर लेंगे, उनके लिए यह कृति अविस्मरणीय सिद्ध होगी।

सरकारी नियम-कानूनों की पेचीदगियाँ रामलुभाया और दमयन्ती के बीच तो शंका के बीज बोती ही हैं, बड़े बाबू ललित खन्ना और उनकी प्रेयसी पत्नी माया को भी प्रभावित किये बगैर नहीं छोड़तीं। अनदेखे भविष्य के प्रति अनावश्यक रूप से जागरूक होने के कारण सुखी दाम्पत्य जीवन की किताब के पन्ने खुलकर बिखरने लगते हैं। संवादों के माध्यम से बिखरता स्वार्थ कब व्यंग्य की शक्ल में परिवर्तित हो जाता है, पता ही नहीं चलता। यह लेखक के व्यंग्य कौशल की एक बड़ी विजय है। परोक्ष और सूक्ष्म व्यंग्य को

साधना अपने आप में एक दुष्कर कार्य है जिसे नरेन्द्र कोहली ने बड़े यत्न से निभाया है। धीरे-धीरे कृति आगे बढ़ती है, इसी के साथ ही नाटकीय और असहज स्थितियों की भी गति बढ़ती है। रामलुभाया और दमयन्ती के घर प्रॉपर्टी डीलर का आगमन, उसकी पत्नी की चेतावनी, माया का अनापेक्षित प्रवेश और इस सबके बीच व्यंग्य की महीन किन्तु तीक्ष्ण धार, संकेतात्मकता व्यंग्य को नये क्षितिज प्रदान करती है। इस पूरे प्रसंग में लेखक ने प्रॉपर्टी के नाम पर किये जा रहे फर्जीवाड़े, षड्यन्त्रों, अमानवीयता पर गहरी व्यंग्यात्मक चोट की है।

उपन्यास में बीच-बीच में कुछ ऐसे प्रसंग भी आते हैं जो सामाजिक और पारिवारिक जीवन की विसंगतियों को उद्घाटित करते ही हैं। विद्रूपों की गहराई में जाकर जाँच भी करते हैं और फिर उन पर संकेतों का सहारा लेकर प्रहार करते हैं। ललित खन्ना के पड़ोसी के घर की चोरी और उसमें पुलिस की भूमिका का प्रसंग विशेष रूप से बेहतर बन पड़ा है जहाँ पुलिसिया तंत्र की मनमानी, उसके भ्रष्टाचार और अमानवीयता पर बेहद सलीके से व्यंग्य प्रहार किये गये हैं, ऐसे प्रहार कि पाठक तिलमिला उठता है। थानेदार का चोर और रेपिस्ट को समर्थन देना पुलिस तंत्र की कार्यकुशलता और कार्य प्रविधि को ही प्रश्नों के घेरे में ला खड़ा करता है।

इस व्यंग्य कृति के कतिपय प्रसंग विशेष रूप से चर्चा के योग्य हैं जहाँ व्यंग्यकार एब्सर्डिटी से अलग हटकर भी व्यंग्य की, अपरोक्ष व्यंग्य की सृष्टि करता है। विशेषकर सरकारी कार्यालयों में राजभाषा हिन्दी के प्रयोग को लेकर लेखक ने जिस तरह व्यंग्य की सृष्टि की है, वह प्रशंसा के योग्य है।

संकेतात्मकता से अलग, जहाँ बेहद सहज ढंग से व्यंग्य की धारा बहती है। विशेष रूप से कार्यालयों में हिन्दी प्रयोग की वास्तविकता पर यह वाक्य देखने योग्य है :

''अपने देश में हिन्दी में लिखा चेक भी कहीं असली हो सकता है? या

यह साला हिन्दी चेक दे रहा है, जहाँ के लोग मरते हुए भी चिट्ठी अंग्रेजी में लिखते हैं। वहाँ यह हिन्दी में चेक लिख रहा है। इस काग़ज़ से तो कोई अपना मल भी नहीं पोंछेगा।''

ऐसे ही कुछ और वाक्य उपन्यास में जगह-जगह दृष्टिगोचर होते हैं जो लेखक के व्यंग्य कौशल पर वाह-वाह करने को विवश कर देते हैं। इनमें से कुछ उदाहरण देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

रामलुभाया के केस को देखने के बाद माया का यह बयान देखने योग्य है। जहाँ उसका पति प्रेम भविष्य निधि के पैसों के सामने धुँधला जाता है और उसकी धुँधलाहट व्यंग्य को चमकीला बना देती है।

अपने प्रोविडेंट फंड के कागज़ निकालो, उनको निरस्त करो। नया फार्म भरो। उसमें लिखो कि तलाक और पुनर्विवाह की स्थिति में भी आपका प्रोविडेंट फंड मुझे ही मिलेगा।

ऐसे ही जब कथाक्रम आगे बढ़ता है। नाटकीय स्थितियाँ जवान होने लगती हैं। तभी एक उत्साही रिपोर्टर ललित खन्ना के मरने की खबर अखबार में छाप देता है। सरकारी कूढ़ मगज़ता सर उठाने लगती है, लकीर के फकीर सक्रिय हो जाते हैं। फाइलें निरर्थक शब्दों का बोझ ढोने लगती हैं। इन सबके बीच में एक तटस्थ, किन्तु तेजाबी व्यंग्य की धारा बहने लगती है। विशेषकर उन परिस्थितियों में जब ललित खन्ना अपने जीवित होने के प्रमाण देने के प्रयास करता है, पर चूँकि फाइलों की नोटिंग में उसकी मौत का इन्दराज हो चुका है, सो कोई उसकी बात नहीं मानता। उधर माया उसके प्रोविडेंट फंड को प्राप्त करने की जुगत भिड़ाती है। प्रसंग वक्रता और वक्रोक्ति से भरपूर इन प्रसंगों में व्यंग्य की धार लगातार पैनी होती जाती है और तब तो जैसे उसे अपना उत्कर्ष मिल जाता है जब ललित खन्ना अपने कार्यालय में जाकर अपने जीवित होने की घोषणा करता है पर किसी के न मानने पर खुद को मारने की बात करता है जिसके लिए पुलिस उसे प्रताड़ित करती है। उसे आत्महत्या करने की कोशिश के अपराध में हवालात में रखने की बात करती है तो उसके मुँह से फूटे ये संवाद व्यंग्य उपन्यास को जैसे अपनी मंजिल ही दे देते हैं :

''आत्महत्या तो तब होगी, जब मैं जीवित होऊँगा। मेरा मंत्रालय और कार्यालय मुझे जीवित नहीं मानते। ऐसे में आप किसी शव की अंत्येष्टि को रोक नहीं सकते। मैं तो प्रेत हूँ। मुझे अपना चौथा कराने का पूरा हक़ है।''

सही मायनों में डॉ. नरेन्द्र कोहली की कलम से निकली यह औपन्यासिक कृति प्रयोगधर्मिता के नये आयाम स्थापित करती है। कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर किये गये नये प्रयोगों के लिए इसे विशेष रूप से याद रखा जायेगा। कृति में नाटकीय और अस्वाभाविक घटनाक्रमों के बीच में पारिवारिक, सामाजिक, प्रशासनिक आदि अनेक विसंगतियों की पड़ताल चलती रहती है। बहुत गहराई में जाकर उनके उत्स खोजे जाते हैं और फिर शैलीय उपकरणों के अभिनव प्रयोगों द्वारा उनके मर्म पर प्रहार होता है। यह बात दीगर है कि यह प्रहारात्मकता कहीं प्रत्यक्ष है तो कहीं संकेतों के माध्यम से। संकेतों को समझने के लिए पाठक का गम्भीर और सजग होना जरूरी है। जहाँ वह इन संकेतों को बूझ लेता है, वहाँ उसे महीन बुनावट के व्यंग्य की एक अलग छटा मिलती है जो उसे चमत्कृत कर सकती है। यही संकेतात्मकता और शिल्प संयोजन इस कृति को वैशिष्ट्य प्रदान करता है।

'देश के हित में' अपने समग्र रूप में एक प्रौढ़ रचना है जो लेखक के व्यंग्य कौशल की बानगी को करीने से प्रस्तुत करती है। इसकी भाषा पात्रों के व्यक्तित्वों, उनके कार्यों के अनुरूप बुनी गयी है, पात्रों के हिसाब से इसकी भाषा बदलती जाती है जिसमें अंग्रेजी, तत्सम, पंजाबी और उर्दू के शब्द सुविधा और सहजता के अनुसार लिए गये हैं। शैलीय उपकरणों में वक्रोक्ति और वाग्वैदग्ध्य का ठाठ देखने को मिलता है। नाटकीयता इसकी शक्ति भी है और कहीं-कहीं कृति के प्रभाव को सीमित करने वाली भी। अधिकांशतः लेखक ने संवादों के माध्यम से व्यंग्य को अभिव्यक्ति दी है जिसके कारण अपरोक्ष व्यंग्य को समझने में सहजता आयी है। जहाँ संवाद नहीं है, वहाँ प्रसंग वक्रता के माध्यम से व्यंग्य की सृष्टि हुई है।

सच तो यह है कि औपन्यासिक सूत्रों का सन्तुलन बनाये रखते हुए इतने बड़े कैनवस पर व्यंग्य का निर्वाह बेहद जटिल कार्य है। उस पर यदि आप प्रयोगधर्मिता को शिल्प और कथ्य दोनों ही स्तरों पर बनाये रखें, संकेतात्मकता और एब्सर्डिटी को भी साधें और उसके बाद भी आप अगर कृति की पठनीयता को बचाये रखें तो यह एक चमत्कार ही कहा जा सकता है। यह चमत्कार नरेन्द्र कोहली के व्यंग्यकार ने किया है जिसके लिए वह निस्सन्देह बधाई के पात्र हैं। 'देश के हित में' जैसी कृतियाँ हिन्दी ही नहीं, अन्य भाषाओं में भी दुर्लभ हैं। हिन्दी व्यंग्य के पाठकों को एब्सर्डिटी से परिचित कराने का श्रेय नरेन्द्र कोहली को ही जाता है। 'पाँच एब्सर्ड उपन्यास' और अब इसके बाद 'देश के हित में' इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

मुझे विश्वास है कि नरेन्द्र कोहली के व्यंग्य के प्रशंसकों को यह व्यंग्य औपन्यासिक कृति जरूर आकर्षित करेगी। जहाँ सामान्य पाठक इसकी नाटकीयता, वाग्वैदग्ध्य और प्रसंग वक्रता को पसन्द करेंगे, वहीं गम्भीर पाठक इन सबके साथ इसमें छिपे संकेतों की पहचान करके एक अनूठे व्यंग्य से रूबरू होने का आनन्द लेगा। इन्हीं शब्दों के साथ मैं इस व्यंग्य उपन्यास के पाठकों के बीच लोकप्रिय होने की कामना करता हूँ।

❑❑❑

जी-186-ए, एच आई जी, प्रताप विहार, गाज़ियाबाद-201009
ई-मेल : subhash.c.chander63@gmail.com

नरेन्द्र कोहली का पौराणिक आधुनिकतावाद

● युजीनिया वानिना

अनेक चिंतकों, गुरुओं तथा धर्म-सुधार प्रचारकों ने अपने-अपने उद्देश्यों को लेकर रामायण में परिवर्तन भी किया था। विशेषकर भक्त संत कवि लोग इस कार्य में संलग्न थे। उन्होंने ही राम के दिव्य अस्तित्व पर वह जोर दिया था जो मौलिक कथा में नहीं था। वाल्मीकीय रामायण के अंत तक भी राम एक मनुष्य ही बने रहते हैं। वे सभी मानव-भावनाओं, दुखों, वेदनाओं इत्यादि का अनुभव कर लेते हैं और सभी मित्र तथा शत्रु उनको मनुष्य ही मानते हैं।

संसार जानता है कि भारत का महान् संस्कृत आदिकाव्य रामायण जिसके लेखक या संपादक महर्षि वाल्मीकि माने जाते हैं, विविध लोक-साहित्यिक तथा धार्मिक परंपराओं के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम बनकर अपना यह रूप ग्रहण कर चुका था जो आज सर्वप्रसिद्ध है। अपने इतिहास के प्रारंभिक चरणों से ही आज तक रामायण के असंख्य संपादन, विभिन्न भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद, रूपान्तर, पुनर्विचार तथा पुनर्निर्माण हुए हैं। ऐसा लगता है कि रामकथा रचित और प्रसारित करके महर्षि वाल्मीकि तथा अन्य प्राचीन कवियों ने आनेवाली पीढ़ियों के लेखकों, कथाकारों, नाटककारों, अनुवादकों, कलाकारों, विचारकों, धार्मिक एवं सामाजिक सुधारकों तथा विद्वानों को चिंतन-मनन और रचना-कार्य का अमूल्य और अनंत अवसर दे रखा है। रूपान्तरों की यह अखंड परंपरा रामायण की अद्वितीयता का प्रमाण है। अन्य देशों के प्राचीन महाकाव्य, जैसे होमर के इलियड तथा ओडिस्सेय या बाबिल वाला गिल्गमेश या सैक्सन बेओवुल इत्यादि संगमर्मर की मूर्तियाँ बनकर जड़ हो चुके हैं। सदियों के अंतराल में उनपर न कोई विशेष पुनर्विचार हुआ और न ही लोक-जीवन पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा। रामायण ही आज तक भारतवासियों (न केवल हिन्दुओं बल्कि सभी संप्रदायों) के मन और साधारण जीवन में सजीव तथा अमर है। उसके प्रमुख पात्र तो मानों हर भारतीय स्त्री-पुरुष के सगे-संबंधी हैं।

इतिहास के विभिन्न युगों तथा भारत के विभिन्न प्रदेशों में रचित रामायण के सभी रूपान्तरों तथा अनुवादों का विश्लेषण इस छोटे से लेख में तो दूर, एक मोटे ग्रंथ में भी असंभव होगा। उन रूपान्तरों

तथा अनुवादों के वर्गीकरण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। भाषा-प्रदेश-संस्कृति की दृष्टि से वे संस्कृत तथा देशीय माने जा सकते हैं। संस्कृति तथा मानवशास्त्र के विद्वानों के अनुसार रामकथाएँ मौखिक (लोक-साहित्यिक) और लिखित (साहित्यिक) हो सकती हैं। ऐसा वर्गीकरण तो बस कृत्रिम ही है। सभी लिखित रामकथाएँ मौखिक लोक-साहित्य से आई हैं। मौखिक रामकथाओं पर भी लिखित साहित्यिक रामकथाओं का प्रभाव पड़ा था। धर्म-संप्रदाय की दृष्टि से वे हिन्दुओं के अनेक समुदायों, जैनों, बौद्ध-धर्मियों, सिखों तथा मुसलमानों की धाराएँ हैं। जहाँ तक इतिहास की बात है तो रामकथाएँ प्राचीन, मध्यकालीन, उपनिवेशकालीन तथा आधुनिक युग में विभाजित की जा सकती हैं। एक और वर्गीकरण हो सकता है, लेखक और उसके श्रोताओं तथा पाठकों के विशेष सामाजिक, धार्मिक या दार्शनिक उद्देश्यों के अनुसार।

एक उद्देश्य वाल्मीकीय रामायण को हर किसी प्रदेश की भाषा, जीवन-शैली और संस्कृति के अनुरूप बनाना था। तमिल महाकवि कंबन से लेकर भारत के हर क्षेत्र के कवियों ने न केवल रामायण को अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवादित किया था बल्कि उस महाकाव्य के सभी नायक-नायिकाओं को अपने प्रदेश के निवासी के रूप में चित्रित किया। अयोध्या, पंचवटी या लंका जैसे स्थान भी तमिलनाडु, बंगाल अथवा मैसूर का रूप ग्रहण करते रहे।

दूसरा उद्देश्य रामायण को समाज में कई नैतिक गुणों और मान्यताओं इत्यादि को स्थापित करने या उनकी रक्षा करने का साधन बनाना था। मध्यकालीन समाज से लेकर अब तक अनेक लोगों का मत यह है कि समय गुजरने के साथ-साथ मनुष्यों की प्रकृति बिगड़ती जाती है। उस प्रकृति को सुधारने के लिए लोगों को प्राचीन काल के वीर पुरुषों और पतिव्रता नारियों की याद दिलानी चाहिए। इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण और उसके असंख्य रूपांतर, समाज में परंपरागत मान्यताओं की सुरक्षा या पुनर्स्थापना करने का एक शक्तिशाली आयुध बने थे। किसी हद तक टी०वी० के धारावाहिक, विशेषकर 'सागर आर्ट्स' द्वारा उत्पादित दोनों रामायण, आधुनिक समाज को हिन्दू धर्म की मौलिक मान्यताएँ और परम्पराएँ समझाने के उद्देश्य से बने होंगे।

अनेक चिंतकों, गुरुओं तथा धर्म-सुधार प्रचारकों ने अपने-अपने उद्देश्यों को लेकर रामायण में परिवर्तन भी किया था। विशेषकर भक्त संत कवि लोग इस कार्य में संलग्न थे। उन्होंने ही राम के दिव्य अस्तित्व पर वह जोर दिया था जो मौलिक कथा में नहीं था। वाल्मीकीय रामायण के अंत तक भी राम एक मनुष्य ही बने रहते हैं। वे सभी मानव-भावनाओं, दुखों, वेदनाओं इत्यादि का अनुभव कर लेते हैं और सभी मित्र तथा शत्रु उनको मनुष्य ही मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस से इसके विपरीत धारा आरंभ हुई। आरंभ से ही पाठकों को मालूम है कि राम भगवान विष्णु नारायण हैं, उनके सभी दुख और जोखिम बस लीलाएँ ही हैं। यहाँ तक कि राक्षस भी उनके हाथों मरकर मुक्ति पाने के लिए तड़प रहे हैं।

रामायण के रूपांतर करने वाले अनेक लेखक उस महान् काव्य के माध्यम से सामाजिक सुधार, देशभक्ति आदि जैसे सिद्धांतों का प्रचार करते थे और पात्रों के उन कार्यों को परिवर्तित कर देते थे, जो उन सुधारवादी विचारों या लेखक की निजी मान्यताओं के प्रतिकूल लगते थे। तीसरी और पाँचवी सदी ईसवी के बीच रहने वाले महान् नाटककार भास को यह असहज लगा होगा कि सीता स्वर्णमृग को प्राप्त करने का इतना हठ करें और राम अपनी पत्नी की सनक से ही सब कुछ छोड़-छाड़कर तथा लक्ष्मण की चेतावनी को अनसुना करके मृग के पीछे भाग खड़े हों। इसीलिए उन्होंने स्वर्ण-मृग की सारी कथा बदल दी थी, राम अपने स्वर्गीय पिता का श्राद्ध-तर्पण करने के लिए आतुर थे। उन्होंने तपस्वी-वेश में आये हुए रावण से मंत्रणा पूछी तो रावण ने ही उन्हें स्वर्ण मृग की बलि चढाने का आदेश दिया था। तो अचानक स्वर्ण-मृग-रूपी मारीच को सामने देखकर ही राम उसके पीछे भाग निकले थे। महाकवि कंबन राम को शूर्पणखा का नाक कटवाने के दोष से मुक्त करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने यह काम लक्षमण से राम की अनुपस्थिति में ही करवाया था। तुलसीदास के काव्य में सीता का न हरण हुआ था और न अग्नि-परीक्षा। राम ने तो अपनी लीला से सीता के माया-प्रतिरूप का हरण और अग्नि-परीक्षा करवाए, सीता-निष्कासन की बात तो उठी ही नहीं। उसी तरह रामायण पर आधाारित आधुनिक टी०वी० धाारावाहिकों में भी प्रजा के झूठे आरोपों से पीड़ित सीता स्वेच्छा से, राम के न चाहने पर भी, वन जाती हैं। इसका उद्देश्य शायद राम और रामकथा को उन कठोर आलोचकों से बचाना है जो इस प्राचीन कथा के नायक पर आधुनिक विचारों के अनुसार अन्याय, क्रूरता और स्त्री-दमन का आरोप लगाते हैं।

कभी-कभी रामायण को देशभक्तिपूर्ण या क्रांतिकारी बनाने की आतुरता में लेखक लोग सारी कथा को नष्ट या उलट-पलट करते थे। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध बंगाली कवि माइकल मधुसूदन दत्त के मेघनाद वध काव्य में मेघनाद एक उदार देशभद्ध और राम एक क्रूर आक्रमणकर्ता बन गये थे। तेलुगु लेखक गुडिपाति वेंकतचलम् के 'सीता-अग्नि-प्रवेशं' नामक नाटक में अपने प्रति राम के अविश्वास से अपमानित सीता रावण की चिता में प्रवेश कर बैठती हैं। इस तरह प्रगतिशील सामाजिक विचारों को जनता तक पहुँचाने के लिए रामायण पर अनेक अत्याचार हुए जो रावण के अत्याचारों से किसी भी प्रकार कम नहीं थे।

नरेन्द्र कोहली का 'अभ्युदय' नामक उपन्यास यह प्रमाणित करता है कि वाल्मीकीय रामायण का पूरा सम्मान करते हुए भी एक आधुनिक लेखक इस पौराणिक कथा को आधुनिक तथा प्रगतिशील बना सकता है। इसमें कोहलीजी ने अपनी रचनात्मक क्षमता और अपने ऐतिहासिक अंतर्बोध का परिचय दिया है।

'अभ्युदय' की विशेषता यह है कि लेखक ने एक पौराणिक कथा को यथार्थवादी वातावरण में बसाया है। इतिहास के विद्यार्थियों को अच्छी तरह मालूम है कि वाल्मीकीय

रामायण में आर्य राज्यों का दक्षिण की ओर विस्तार और आर्येतर राज्यों के साथ मैत्री तथा संघर्ष प्रतिबिंबित हैं। सम्पूर्ण ऐतिहासिक सत्य के अनुकूल उन्होंने अपने उपन्यास में आर्यों तथा आर्येतर जातियों के सम्बन्ध बहुरूपी बनाकर दिखाया था। राम या जनक जैसे दूरदर्शी आर्य शासक या अगस्त्य तथा विश्वामित्र जैसे प्रगतिशील ऋषि आर्येतर जातियों के प्रति मित्र-भाव रखते थे, जबकि ऋषि वसिष्ठ या आर्य यूथपति प्रवीर जैसे लोग आर्येतर जातियों को हीन, भ्रष्ट और शत्रु मानते थे। आर्येतर यूथ वाल्मीकीय रामायण में वानरों, गृध्रों और भालुओं के रूप में उपस्थित हैं। उन्हीं ऐतिहासिक तत्वों के आधार पर कोहलीजी ने पौराणिक कथा को ऐतिहासिक बनाया है। हनुमान, सुग्रीव, अंगद, नल, नील, जटायु आदि जैसे पात्रों को पशु से व्यक्तिगत चरित्र संपन्न मनुष्य बनाया गया है। वैसे भी सब रामकथाओं में वानर-भालू पशु-रूपी मनुष्य होते ही हैं, जिनकी पशु-प्रकृति से केवल उनकी पूँछें ही कथा में काम आती हैं, तो उन लोगों को वास्तविक मनुष्य बनाना स्वाभाविक ही था। और अगर लंका जला डालने के लिए हनुमान की पूँछ चाहिये हो तो राक्षस लोग अपने क्रूर मनोरंजन के लिए उन्हें वानर-रूप देकर पूँछ क्यों न लगवा दें। इसी प्रकार देव, यक्ष, गन्धर्व इत्यादि भी कोहलीजी के उपन्यास में मनुष्य ही बन गए हैं। देव-देवियाँ विशेष महाशक्तियों के प्रतिनिधि शासक बन गए हैं, जिन्होंने अपने विलास और अबाध भोग में कमजोर और निकम्मे होकर रावण के सामने समर्पण किया था और राम-रावण संघर्ष को केवल दूर से देखते-देखते कभी-कभी सत्य पक्ष को गुप्त रूप से छोटी-मोटी सहायता देने का साहस किया था। कथा के नायक राम भी कोहलीजी के उपन्यास में भगवान नहीं, मानव हैं जिनके विकट जोखिमों के भरपूर संघर्षरत जीवन में सहे मानसिक और शारीरिक कष्ट लीलाएँ थोड़ी ही हैं। अपने सब पात्रों को मानव-रूप देकर कोहलीजी ने सारी कहानी को जीवंत भाव दे रखा है। रामायण के सभी पात्र अब काल्पनिक जगत में नहीं, एक यथार्थवादी ऐतिहासिक समाज में रहने लगे हैं।

इस यथार्थवाद को बनाए रखने और सभी काल्पनिक तत्व हटाने की जो रचनात्मक क्षमता कोहलीजी ने दिखाई है, वह सचमुच प्रशंसनीय है। 'अभ्युदय' में हनुमान भारत और लंका के बीच का सागर उड़कर नहीं, तैरकर पार करते हैं, जो किसी सक्षम तैराक के लिए असंभव नहीं है। सर्प विष में सने बाणों के घायल राम-लक्ष्मण को यातनापूर्ण मृत्यु से विष्णु-वाहक गरुड नहीं, गरुड नाम का वैद्य बचाता है। दिव्यास्त्र, अग्निबाण आदि शिलाप्रक्षेपक या अग्निप्रक्षेपक शस्त्र बन जाते हैं जो भारत और अन्य प्राचीण राज्यों में प्रचलित थे। लंका तक पहुँचने का मार्ग राम किसी दिव्य सहायता से नहीं, अपने शुभचिंतक स्थानीय मछुआरों के सागर-ज्ञान और अपने सैनिकों के विकट परिश्रम से तैयार करवाते हैं।

जब किसी पौराणिक घटना को यथार्थ का रूप देना मुश्किल होता है तो उपन्यास में रूपक (मेटाफर) का प्रयोग किया जाता है। पति-परित्यक्त अहल्या शिला नहीं बनती,

मानव-समाज से बहिष्कृत होकर एकांत सधना में 'शिलावत्' बैठे-बैठे मुक्ति की प्रतीक्षा करती है। औषधीय बूटियों का बड़ा गट्ठर लानेवाले हनुमान को सुग्रीव कहते हैं कि 'तुम तो औषधियों का पर्वत ही उठा लाए'। रामकथाओं से परिचित कोई भी पाठक इन वाक्यों का अर्थ सुविधा से समझ सकता है। रावण की बंदिनी के रूप में सहे सीता के कष्टों को राम 'अग्नि-परीक्षा' कहते हैं तो असली अग्नि-परीक्षा अनावश्यक तथा राम के चरित्र के प्रतिकूल बन जाती है।

कोहलीजी के उपन्यास में अनेक नये पात्र उपस्थित हैं जो न वाल्मीकीय रामायण में मिलते हैं न उसके किसी और रूपान्तर में। राम को यात्राओं में मिले वनवासी-ग्रामवासी, श्रमिक, मछुआरे, दास-दासियाँ रामकथा के अलंकार नहीं, बल्कि सजीव और व्यक्तिगत गुण-दोष संपन्न पात्र हैं, जो राम का जीवन-ज्ञान बढ़ा देते हैं और राम से संघर्ष-प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इस अत्याचार विरोधी संघर्ष में उन लोगों के वे गुण प्रकट होते हैं जिनका कोई भी ज्ञान स्वयं उनको नहीं था। राक्षस तुंभरण के भयभीत और दीन-हीन दास अपने स्वामी को मारकर मुक्त हो जाते हैं। जो भूदास भयवश अपने स्वामी की भूमि पर अपना कोई अधिकार स्वीकार भी नहीं कर पाते थे, वे ही उसी भूमि के लिए एक बड़ी राक्षस सेना से निहत्थे लड़ लेते हैं। राम का प्रभाव खान मजदूर अनिन्द्यो को लफंगे शराबी से एक वीर लोकनायक बना देता है। इसी प्रभाव से वानर युवक मुखर राम का प्रिय शिष्य बनकर शस्त्र ज्ञान के साथ शौर्य अर्जित करता है और रावण से अपनी 'दीदी' सीता की रक्षा के प्रयत्न में वीरगति प्राप्त कर लेता है। शस्त्र-शिक्षा पाये बिना भी निर्धन देहाती तेजधर 'भावना से' राम का सैनिक बनकर वीरता और बलिदान के अद्‌भुत उदाहरण देता है। श्रमिक-पत्नी सुधा और दासी मणि जैसी दमित स्त्रियाँ भी आत्मसम्मान प्राप्त करके अत्याचार-विरोधी संघर्ष और समाज-सुधार के सक्षम सेनानी बन जाती हैं।

ऐसा लग सकता है कि मुख्य नायक राम के चरित्र में कोहलीजी वाल्मीकि का अनुसरण करते हैं, पर यह ठीक नहीं है। हाँ, वाल्मीकि रचित राम जैसे कोहलीजी के राम भी एक आदर्श मानव हैं, आदर्श पुत्र, भाई, मित्र और पति, आदर्श योद्धा और सेनानायक हैं। उनकी वीरता, उदारता, त्याग और बलिदान, संगठन-क्षमता, समता और न्याय अद्वितीय है। पर कोहलीजी ने उनके चरित्र के निर्माण में कुछ नए गुणों का भी सम्मिश्रण किया है, जो पूर्व के किसी राम में नहीं थे। उनके राम भगवान नहीं, राजा नहीं, एक समाजवादी जन-नेता हैं। वाल्मीकि रामायण से लेकर आज की टी०वी० रामायणों तक राम केवल ऋषियों की रक्षा करते रहते थे। कोहलीजी के राम राक्षसों द्वारा शोषित आर्येतर जातियों, दासों और श्रमिकों को मुक्त कराते हैं तथा उनके पिछड़े समाज में मौलिक परिवर्तन कर देते हैं। ये परिवर्तन आर्थिक भी हैं और विशेषकर सामाजिक भी। उत्पादन के साधनों को सामाजिक संपत्ति बनाना, सारे जन-जीवन को लोकतंत्र के सिद्धांतों पर आधारित करना, स्त्रियों और पुरुषों को समान अधिकार देना, हर श्रमिक को शोषण से बचाकर सही

रोजगार, वेतन, आवास, शिक्षा और चिकित्सा का अवसर दिलाना, कोहलीजी के राम का यह कार्यक्रम हर आधुनिक समाजवादी या साम्यवादी पार्टी का कार्यक्रम और आज के करोड़ों श्रमजीवी लोगों की सुनहरी कल्पना है।

यह पूछा जा सकता है कि क्या राम को इस आधुनिक विचारधारा में रंग कर कोहलीजी ने अपने ऐतिहासिक यथार्थवाद का विरोध तो नहीं किया? किसी भी प्राचीन समाज में ऐसा क्रांतिकारी चिंतन था भी नहीं। अरस्तु (Aristotle) जैसे महान चिंतक भी कहते थे कि 'दास मनुष्य नहीं, बस एक बोलनेवाला उपकरण है'। गौतम बुद्ध या भक्त संत कवि भी मनुष्यों की समता आध्यात्मिक मानते थे, सामाजिक नहीं।

हाँ, कोहलीजी ने अपने राम के माध्यम से वे विचार प्रस्तुत किए हैं, जो न केवल प्राचीन समाज के युग-पुरुषों के नहीं थे, बल्कि आज भी इने-गिने उदार और प्रगतिशील लोगों को ही स्वीकार्य हैं। फिर भी मुझे इसमें न कोई भूल दिखती है न दोष। यथार्थवाद का अर्थ यह नहीं है कि लेखक किसी युग, घटना या व्यक्ति की फोटोकॉपी बनाए। साहित्य के विश्व इतिहास में यह तो एक मामूली बात है कि लेखक लोग लोकप्रिय ऐतिहासिक पात्रों के मुख से ही अपने विचार पाठकों तक पहुँचाते हैं। इसी तरह हरिनरायण आपटे ने शिवाजी को तथा बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने राजसिंह को भारत के उपनिवेश-विरोधी स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी बनाया था।

कोहलीजी के जनवादी सिद्धांत उनके राम के जनवादी विचारों और व्यवहार से स्पष्ट दिखाई देते हैं। सीता और लक्ष्मण के साथ वे अपने वनवास में आम जनता का साधारण जीवन सहज रूप से जी रहे हैं। जब जब मैं टी०वी० धारावाहिकों में देखती हूँ कि राम मंदिर की मूर्ति की-सी मुसकान अधरों पर लिए सीता, लक्ष्मण और अन्य वनवासियों की सेवाएँ स्वीकार करते हैं और धनुष-बाण तथा भोजन को छोड़कर हाथ में कुछ लेते ही नहीं तो मुझे कुदाल तथा कुल्हाड़ी चलानेवाले कोहलीजी के राम याद आते हैं। टी०वी० के राम को सभी लोग 'प्रभु' ही पुकारते हैं, जबकि कोहलीजी के राम उनकी उपस्थिति में बैठने से संकोच करनेवाले भील दास झिंगुर को समझाते हैं कि ''मैं प्रभु नहीं हूँ। मैं एक साधारण आदमी हूँ। मैं मनुष्यों में मानवीय सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं मानता।'' वाल्मीकि, तुलसीदास और अन्य रामकथाओं में तथा टी०वी० धारावाहिकों में राम के प्रति उनके सभी सम्बन्धियों की निष्ठा दास्य भक्ति पर आधृत है, यहाँ तक कि सीता का प्रेम और पातिव्रत्य, लक्ष्मण का भ्रातृत्व और वानर-नेताओं तथा विभीषण की मैत्री-निष्ठा भी इस दास्य-भक्ति में समा जाते हैं और वे सब लोग अपने को दास और राम को स्वामी एवं प्रभु कहते हैं। कोहलीजी के उपन्यास में वानरों की राम-भक्ति एक वीर, उदार तथा प्रतिभाशाली जन-नेता के प्रति श्रद्धा और निष्ठा है। अंगद रावण को समझाता है, कि राम हमारे स्वामी नहीं, नायक हैं। स्वामी-सेवक सम्बन्ध हमारे समाज में नहीं है। हमने अपने नए समाज में इन संबंधों को समाप्त कर परस्पर सहयोग

और बंधुत्व का सम्बन्ध स्थापित किया है। सचमुच खेद है कि 'अभ्युदय' किसी धारावाहिक का आधार नहीं बन पाया, जाने क्यों?

राम के जनवादी, प्रगतिशील, न्यायप्रिय तथा उदार चरित्र के जो मनोवैज्ञानिक आधार कोहलीजी ने अपने उपन्यास में दिखाए हैं, वे उल्लेखनीय हैं। राम का यह चरित्र जन्मसिद्ध या दिव्य प्रदत्त नहीं है, उसका विकास विभिन्न परिस्थितियों के प्रभाव का परिणाम है। बचपन से ही वे अपने परिवार में अपने और अपनी पति-उपेक्षिता माता के प्रति अन्याय का अनुभव करते रहे हैं और उसका विरोध करना सीखते रहे हैं। पर आरंभ में उन्हें लगता था कि विश्व का अधर्म और अत्याचार किसी राजा की न्यायोचित नीति से मिटाया जा सकता है। लेकिन जब दूरदर्शी ऋषि विश्वमित्र ने उन्हें शोषण और जन-उत्पीड़न का अथाह सागर दिखाया, तो राम की समझ में आया कि इस विश्वव्यापी अत्याचार को केवल सार्वजनिक सशस्त्र आंदोलन ही समाप्त कर सकता है। कैकेयी को दिये गये पिता के वरदान को एक सुअवसर मानकर वे सारी राजसी औपचारिकताओं से मुक्त होकर वन जाते हैं और दीन-हीन पीड़ितों को आत्मसम्मान तथा संघर्ष-शक्ति के साथ शस्त्र-ज्ञान देकर वीर सैनिक बनाते हैं। सीता-मुक्ति इस जन-युद्ध का तो एक बहाना मात्र बन जाता है। सीता-हरण न भी हुआ होता तो रावण विरोधी जन-युद्ध अनिवार्य था। हर गाँव, जहाँ से राक्षसों ने स्त्रियों का हरण किया था, जहाँ के बच्चों को उन्होंने या तो भूखों मरवाया था या दास बनाया था, राम की सेना की एक टुकड़ी बन जाता है। अनेकों बार राम की सेना में भर्ती होनेवाले श्रमिक लोग समझाते हैं कि यह राक्षस-विरोधी युद्ध राम का निजी प्रतिशोध नहीं, सारी शोषित जनता का मुक्ति-युद्ध है। हाँ, वाल्मीकि रामायण में राम पंचवटी का भीषण युद्ध अकेले लड़ते हैं जबकि कोहलीजी के उपन्यास में उनके जन-सैनिक राम और राक्षसों के बीच एक अमोघ ढाल बनाकर राम की रक्षा भी करते हैं और विजय में अमूल्य योगदान भी देते हैं। पर इससे राम की न वीरता घटती है, न कीर्ति। असंख्य दीन-हीन और भयग्रस्त शोषितों में आत्मसम्मान और वीरता फूँक देना रावण को पराजित करने से कम विजय नहीं थी। इस तरह राम की वीरता हजारों जन-सैनिकों में फैल जाती है, हर सैनिक अपने किस्म का राम बनता है। सच कहती हैं सीता कि रावण चाहे प्रतिदिन एक राम का वध करे, तो भी प्रतिदिन एक नया राम जीवित उठ खड़ा होगा।

राम के अलावा अपने दूसरे पात्रों के चरित्र-वर्णन में भी वाल्मीकि रामायण का पूरा सम्मान करते हुए कोहलीजी ने अनेक नये गुण प्रस्तुत कर दिखाये हैं। सीता एक आदर्श पत्नी ही नहीं, बल्कि समाज-सुधाार-आंदोलन की, राम के बराबर नेतृ हैं। वे राम की सहायता केवल पति-निष्ठा और प्रेम से ही नहीं, एक स्वतंत्र न्याय-भावना तथा सामाजिक कल्याण के प्रति उत्कंठा के कारण करती हैं। यह चरित्र भी लेखक की स्वेच्छा पर नहीं, बल्कि विशेष मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित है। पौराणिक घटना को एक रूपक

बनाकर कोहलीजी ने सीता के 'पृथ्वीपुत्री' होने के प्रसंग को एक यथार्थवादी रूप दे रखा है। उनकी सीता सही अर्थ में पृथ्वीपुत्री हैं, किसी निर्धन परिवार की परित्यक्ता संतान। दयालु राजा जनक की पालिता पुत्री होते हुए भी सीता एक अज्ञातकुलशीला कन्या मानी जाती हैं और इसी कारण अनेक बार तिरस्कार तथा अपमान सहती हैं। इस तरह वे राम के ही बराबर अन्याय, जाति-भेद और अत्याचार के प्रति सजग हो उठती हैं। ससुराल के विलासी जीवन से उनका दम घुट रहा है। वे राम के निष्कासन को राजमहल की परम्पराओं और औपचारिकताओं के बंधनों से मुक्ति तथा कार्य-अवसर मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेती हैं और न केवल राम की सहायिका, बल्कि एक स्वतंत्र सामाजिक कल्याणकारिणी नायिका बन जाती हैं। ऐसी सीता के लिए तो स्वाभाविक ही है कि रावण की बंदिनी बनकर वे रोने-चिल्लाने के स्थान पर रावण को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारती हैं। एक स्वतंत्र और आत्मनिर्भर व्यक्ति, एक योद्धा और समाज-नेतृ बनकर कोहलीजी की सीता अपना नारी-चरित्र, कोमलता और आकर्षण खो नहीं देती। शूर्पणखा के प्रति उनकी अकारण शंका इतनी ही स्वाभाविक है जितनी रावण को उनकी युद्ध-ललकार। शायद सीता के इस रूप में कोहलीजी ने पाठकों को यह दिखाया होगा कि आधुनिक स्त्री कैसी होनी चाहिए। इसका महत्त्व आज के जमाने में और भी बढ़ जाता है, जब आधुनिक सभ्यता स्त्री को सीता नहीं, शूर्पणखा बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

लक्ष्मण तथा हनुमान के चरित्रों के मूल स्रोत के प्रति सम्मान तथा नवीनता का वही सम्मिश्रण दीखता है। जीवन की कष्टप्रद परिस्थितियों में कोहलीजी के उपन्यास के लक्ष्मण एक चपल और प्रसन्नचित्त किशोर से एक उग्र योद्धा में परिवर्तित हो जाते हैं। सीता-हरण का निमित्त बनने का पश्चाताप उनका सारा जीवन-रस सुखा डालता है, उनकी सारी निजी भावनाएँ और इच्छाएँ नष्ट कर देता है। सीता की भाँति वे राम की मूक परछाई नहीं, एक स्वतंत्र चिंतन-मनन के व्यक्ति हैं जिनकी न्याय तथा सामाजिक विकास के प्रति राम के ही समकक्ष है या शायद और भी उग्र है, जबकि राम जैसे विवेक, धैर्य और आत्मनियंत्रण का उनमें अभाव ही है। पर उससे बड़ा विकास कोहलीजी के उपन्यास में सभी रामकथाओं की तुलना में हनुमान के चरित्र का हुआ है। 'अभ्युदय' में हनुमान राम के निष्ठावान दास नहीं, किष्किन्धा राज्य और वानर जाति के अटल भक्त हैं। वे देशभक्त और राष्ट्रप्रेमी हैं। शिक्षा और ज्ञान में अपने देशवासियों से बहुत आगे निकलकर वे वानर जाति के पिछडेपन से अत्यंत पीड़ित हैं और उसके विकास के लिए कुछ भी करने के आतुर हैं। उस शालीन, विनीत और संतुलित व्यक्ति में एक विकट शारीरिक और मानसिक शक्ति है। राम की सेवा कर, वे अपने देश की सेवा करते हैं क्योंकि वानरों को राक्षस-आधिपत्य से मुक्त करने के बाद ही उनके समाज में सुधार किये जा सकते हैं। राम में हनुमान को एक सक्षम नेता और समाज-सुधारक ही नहीं, एक मित्र और सहचिन्तक मिला था जो अपने राजा सुग्रीव में नहीं मिल सका था। स्थिति से सुग्रीव के

मंत्री और सेवक होते हुए हनुमान अपने ज्ञान, विवेक, धैर्य, वीरता, दूरदर्शिता आदि जैसे व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से सुग्रीव से बहुत ऊपर हैं, जो राम जल्दी जान जाते हैं और स्वयं किष्किन्धा-नरेश भी मन ही मन में समझते हैं।

कभी-कभी अपने पात्रों के चरित्र-वर्णन में कोहलीजी वाल्मीकि रामायण और उसके सभी रूपांतरों से काफी दूर जाने का साहस कर लेते हैं। विशेषकर यह राम के पिता राजा दशरथ के साथ हुआ है। सभी रामकथाओं में दशरथ एक वीर, न्यायप्रिय तथा धर्मात्मा राजा हैं जो कुल की मर्यादा की रक्षा करते हुए अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं और पुत्र-वियोग में तड़प-तड़पकर यमलोक चले जाते हैं। कोहलीजी के उपन्यास में दशरथ बिलकुल ऐसे नहीं हैं। वे कायर, अबोध, कामुक, विलासी और स्वार्थी राजा हैं जो अपनी संतानों को भी प्रेम नहीं करते और अपनी प्रजा के हित के प्रति उदासीन हैं। कामुकता और स्वार्थ उनके स्वभाव के आधार हैं। वे अपनी पटरानी कौसल्या का तिरस्कार करते हुए राम को भी तब तक एक अनचाही संतान मानते हैं जब तक वे यह समझ नहीं पाते कि राम की वीरता और क्षमता से उन्हें कितना बड़ा लाभ मिल सकता है। राम को युवराज घोषित करने का निर्णय भी वे तब करते हैं जब उन्हें अपने प्रति षड्यंत्र की बू आने लगती है और उस जोखिम की स्थिति में भी उनकी चिंता अपने देश के प्रति नहीं, अपनी गद्दी के प्रति ही है। लक्ष्मण अपने पिता का खुला तिरस्कार करते हैं और राम ही अपनी उदारता और पितृ-निष्ठा से उन्हें टोकते हैं और पिता विरोधी वचनों तथा कार्यों से रोक देते हैं। ऐसे राजा दशरथ किसी अन्य रामकथा में कदाचित् ही मिलते हों। उपन्यास में उनका यह रूप राम के चरित्र की विशेषताओं पर बल देने में सहायक होता है। अन्य रामकथाओं में राम के गुण रघुवंश की परंपरा पर ही आधारित हैं जिसका जीवित प्रतीक राम के सामने अपने पिता ही थे। कोहलीजी के उपन्यास में राम की वीरता, उदारता, दया, संगठन और रणनीति की क्षमता पिता से सीखी हुई नहीं, उनके व्यक्तिगत गुण हैं जो जीवन के अनेक प्रभावों, अनुभवों और परिस्थितियों तथा अपने पिता के मूक विरोध के परिणाम हैं।

इसी तरह के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण कोहलीजी अपने उपन्यास के कुपात्रों के लिए भी अपना लेते हैं। उनके दोष भी व्यक्तिगत होते हैं और निजी जीवन की परिस्थितियों पर आधारित हैं, उनकी जाति या परिवार परंपरा पर नहीं। यही विषयनिष्ठा तथा जाति-निरपेक्षता वाल्मीकि रामायण की एक विशेषता भी थी। राक्षसों में न केवल रावण जैसे दुष्ट और क्रूर लोग हैं बल्कि विभीषण, उनकी पत्नी, उनके चारों मंत्री और दासी त्रिजटा जैसे उदार, धर्मशील और दयालु व्यक्ति होते हैं। आर्येतर यूथों के सदस्य वीर और निस्स्वार्थ होते हैं जबकि आर्य रानी कैकेयी अपने स्वार्थ, लोभ और अंहकार के लिए सारा राज्य संकट में डालती है। वाल्मीकि रामायण के उस विशेष गुण को आगे बढ़ाने के लिए कोहलीजी आधुनिक मनोविज्ञान का सकुशल प्रयोग करते हैं। शूर्पणखा इतनी

निर्दय, स्वार्थी और कामुक क्यों है? इसलिए तो नहीं कि वह राक्षसी या रावण की बहन है। युवावस्था में विधवा बनकर वह जीवन भर अकेली और निस्संतान रहती है तथा हर विवाहित स्त्री-पुरुष को देखकर ईर्ष्या से जलती है। उसके पति का वध करके रावण उसे असीम भोग, व्यभिचार और निरंकुश शासन का अवसर प्रदान कर देता है और इसी कारण शूर्पणखा एक चुड़ैल बन जाती है। वह घृणा की पात्र होने के साथ-साथ दया का पात्र भी है। कोहलीजी ने बड़ी भावनात्मक शक्ति से दिखाया है कि कैसे पंचवटी की यह क्रूर स्वामिनी अपने अकेलेपन में बिलख-बिलखकर रोती है और अपना सारा धन खर्च करके भी वह सौंदर्य, यौवन और पारिवारिक सुख प्राप्त नहीं कर सकती, जो किसी निर्धन ग्रामवासिनी या हीन दासी को भी सहज ही मिल जाते हैं। बॉलीवुड के फिल्मों के एकदम विपरीत, वाल्मीकि रामायण में और कोहलीजी के उपन्यास में खलनायकों में भी बुराई ही बुराई नहीं होती है। स्वयं रावण, उसके पुत्र, सेनापति तथा सैनिक राम के साथियों से कम वीर और निष्ठावान नहीं हैं। उसके साथ-साथ वानरराज सुग्रीव जैसे धर्मशील व्यक्ति के मन में भी अनुदारता, स्वार्थी राजनीतिज्ञ या कायर जाग सकता है।

सभी प्राचीन काव्यों के नायक अपने धर्म और मर्यादा के इतने पक्के होते थे कि उन्हें न अपने किसी कार्य का विश्लेषण करने, न अपने किये पर संदेह करने या पछताने कि आवश्यकता पड़ती थी। 'अभ्युदय' में हर मुख्य पात्र का आतंरिक विचार-प्रवाह बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। रावण के मन में कोहलीजी ने एक प्रतिरावण को बसाया था जो लंकापति के हर कार्य का विश्लेषण करता है, और जो विचार रावण अपने आप से भी छिपा लेता है, खुले रूप से उसके मन के अन्दर सुना-सुनाकर परिहास भी करता है। जो बातें रावण के मुँह पर कहने का साहस किसी में नहीं है, वे बातें रावण को अपने मन के अन्दर ही प्रतिरावण से सुननी पड़ती हैं। राम जैसे आदर्श व्यक्ति भी अपने कार्यों का विश्लेषण और आलोचना करते हैं, कभी-कभी हिचकिचाते हैं, कभी-कभी अपना दृढ़ मानसिक आत्मनियंत्रण भी खो बैठते हैं, अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करते हैं। जिस मनोवैज्ञानिकता के लिए वाल्मीकीय रामायण इतनी प्रसिद्ध थी, उसे आगे बढ़ाने और आधुनिक बनाने में कोहलीजी पूर्णतः सफल हुए हैं।

अब सवाल उठता है कि 'अभ्युदय' में रामायण का यह आधुनिकीकरण किस प्रयोजन से किया गया था? साहित्य-विश्लेषकों तथा आलोचकों की यह बुरी आदत होती है कि वे पुस्तकों की समीक्षा करते समय लेखक पर ऐसे विचार थोप देते हैं जो स्वयं लेखक के मन में कभी आये भी नहीं होते। इस पाप से बचते हुए मैं यह सुझाव रखने का साहस करूँगी कि रामायण के आधुनिकीकरण से कोहलीजी अपने समकालीन पाठकों को, अपने समाज को कोई विशेष बात समझाने-बुझाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

अन्याय, अत्याचार, अहंकार, शोषण, स्वार्थ, व्यभिचार जैसे दोष, जिनके विरुद्ध राम और उनके साथी वाल्मीकीय रामायण में युद्ध करते हैं, वे दोष क्या केवल राक्षसों

के थे और उस प्राचीन युग में ही रह गए? क्या अपने किस्म का रावण हर देश, हर नगर, गाँव या मोहल्ले में आज भी नहीं मिलता है? इतना ही नहीं, कोहलीजी के वर्णन के अनुसार लंका नगरी में जहाँ अद्‌भुत वैभव, धन और विकास के साथ-साथ भयंकर अन्याय, अत्याचार, शोषण और दुराचार पनप रहे थे, क्या वह आधुनिक महानगरों की याद नहीं दिलाता है? रावण की लंका के एकदम बराबर आज के महानगरों में भी प्रगति, धन, संस्कृति, सुख-साधन केवल इने-गिने उच्च वर्गों के लिए उपलब्ध हैं और विशाल अट्‌टालिकाओं तथा शानदार भवनों के बगल में ही गरीबों की गन्दी झुग्गियों में निर्धनता, बीमारी, बेरोजगारी, शोषण और अज्ञान बसते हैं। एक ओर अबाध धन, भोग और विलास, दूसरी ओर गरीबी, दमन और अज्ञान, मिलकर ही मानव को पशु बनाते रहते हैं। गरीबों का शोषण करने में, अन्य देशों का धन चूसने में, अत्याचार और व्यभिचार में आज के बड़े लोग रावण और उसके साथियों से कम हैं क्या? राक्षस प्रहरियों और रक्षिकाओं की जिन गन्दी घिनौनी बातों से सीता के कान दुखते रहते थे, क्या ऐसी ही बातें आज के उन स्त्रियों-पुरुषों से, जो गरीबी से बचने के लिए अपने आपको और अपनी संतानों तक को बेचने को तैयार बैठे हैं, सुनने को नहीं मिलेंगी?

आज की दुनिया में वही दमित और पीड़ित निर्धन जनता, वही अपमानित स्त्रियाँ, वही भूखे नंगे और अनपढ़ बच्चे, वही अन्याय और अत्याचार है और जहाँ तक व्यभिचार, पशु-वृत्ति तथा दुराचार के निर्लज्ज खुलेपन की बात है, तो हमारे जमाने में रावण और उसके सम्बन्धियों के सभी कुकृत्य, बचकानी नटखट हरकतों से बढ़कर और कुछ नहीं होते। नए किस्म के रावणों के पास ऐसे आयुध हैं जिनके सामने नागपाश या दिव्यास्त्र बस खिलौने हैं। इन अस्त्रों का मनचाहा प्रयोग करके वे किसी भी देश से अप्रसन्न होकर उसे नष्ट कर सकते हैं।

पर शायद सब से भयंकर बात यह है कि मानव समाज का बहुमत इस अत्याचार से उदासीन या सहमत है। आम जनता में भय भी है और अपने ही जीवन के प्रति उदासीनता भी रोजी-रोटी हो, आराम के लिए दुकानों में शराब उपलब्ध होती हो, सिनेमाघर या टी०वी० में कोई न कोई बकवास चलती रहती हो जो मनुष्य को सोचने के काम से छुटकारा दिलाएँ, मंदिर-मसजिद-गिरजे में सांत्वना मिलती हो तो जिन्दगी गुजर जायेगी, और जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह चुपचाप मर जाये, तो किसी की अंतरात्मा क्यों और कैसे जगे। अधिकांश बुद्धिजीवी कब से कोहलीजी के वर्णित विश्वासघाती मांडकर्णि या कायर कालकाचार्य जैसे हो चुके हैं। जिन लोगों का विवेक, न्याय, और सत्य अभी कुंठित नहीं हुआ है, वे साधारण जनता पर कोई प्रभाव डालने में असमर्थ हैं। इस स्थिति में हमें क्या करना है- नए राम-सीता-लक्ष्मण-हनुमान की प्रतीक्षा ? कहाँ से आएँगे वे लोग? आ भी गए तो उनकी एक भी सुनी जायेगी क्या? लोग सुनकर तथा सहमत होकर भी कहेंगे कि 'बाबा, न, कहते तो आप ठीक ही हैं, पर माफ करना, कौन बनेगा

करोड़पति शुरू होनेवाला है। लोगों के मन की यह जड़ता तोड़ने के लिए, उनमें अन्याय और अत्याचार के प्रति विरोध जगाने के लिए पुरानी जानी-पहचानी रामायण एक साधन बन सकती है, जिसका प्रयोग कोहलीजी ने बड़ी क्षमता और कौशल से किया है। वे कहाँ तक सफल हुए और होंगे- यह जानना कठिन है, जैसे बाइबल में कहा जाता है, ''जिन के कान हों वे सुन ही लेंगे''

आज एक बहुचर्चित समस्या है कि परंपरा और आधुनिकता के क्या-क्या सम्बन्ध होते हैं। बहुत से लोगों का मत है कि आज की संस्कृति में परंपरा केवल रूढ़ तथा प्रतिक्रियावादी हो सकती है। सचमुच समाज में जाति-भेद, धार्मिक मतान्धता, साम्प्रदायिकता, स्त्री-दमन जैसे विषैले बीज बोनेवाले लोग परंपरा की ही सहायता लेते हैं। स्वयं राम का नाम भी सामाजिक भेदभाव और साम्प्रदायिक शत्रुता का प्रतीक बनाया गया था। पर सत्य यही है कि प्राचीन परंपरा या किसी भी प्राचीन धार्मिक ग्रंथ से हम विविध प्रकार के विचार निकाल सकते हैं, जैसे कि जडी-बूटियों से औषधि का भी निर्माण किया जा सकता है और विष का भी। प्रश्न यह उठता है कि हमें चाहिए ही क्या? हर सभ्यता, हर संस्कृति, हर धर्म और परंपरा में सामाजिक कल्याण और विकास को बढ़ानेवाले तत्व भी हैं और क्षयकारी भी-उनमें से उचित चुनाव हमारी ही जिम्मेदारी है। अपने उपन्यान्स 'अभ्युदय' में कोहलीजी ने यह स्पष्ट दिखाया है कि हिन्दू धार्मिक परंपरा का मौलिक भाग रामायण प्रतिक्रियावादी विचारों का ही नहीं, सामाजिक न्याय, समता, जनवाद, जाति-निरपेक्षता, साम्प्रदायिक सहयोग तथा स्त्री-उत्थान का साधन हो सकता है।

वैज्ञानिकों का मत है कि रामायण के प्रारंभिक रूपान्तरों में 'उत्तर कांड' नहीं था और सारी कथा राम की विजय, सीता से सुखमय मिलन और राम के राज्याभिषेक के साथ समाप्त होती थी। सीता पर प्रजा का संदेह, सीता-वनवास, लव-कुश का जन्म, राम-सीता का अंतिम वियोग-यह सब बाद का संयोजन था। अनेक रामकथाओं में यह दुखद 'उत्तर कांड' आया भी नहीं है। 'अभ्युदय' उपन्यास में वही हुआ था। रावण का वध करके, सीता को मुक्त कराने के बाद सप्रेम स्वीकार करके, राम अपने जन-सैनिकों के साथ लंका छोड़ने की तैयारी करते हुए विभीषण से विदा लेते हैं और उन्हें लंका में नया न्यायप्रिय समाज स्थापित करने की मंत्रणा देते हैं। कोहलीजी ने अपने उपन्यास में राम के अयोध्या में लौटने और राज्याभिषेक कराने का वर्णन देना उचित नहीं समझा है, सीता-वियोग तो दूर की बात है। सचमुच एक जन-नेता अपनी वन-कुटिया छोड़कर राजा कैसे बन सकता था? उनका राजमहल के वैभव में लौटाने का क्या औचित्य था? जो राम सीता को रावण द्वारा बलात्कृत होने की स्थिति में भी सादर, सप्रेम और सविश्वास अंगीकार करने के लिए प्रस्तुत थे, जो राम पवित्रता और सतीत्व को मन के गुण मानते थे, शरीर के नहीं, वह राम अबोध लोगों की अर्थशून्य बातों में आकर सीता का त्याग कर सकते थे क्या? इससे स्पष्ट है कि कोहलीजी के उपन्यास को राम-विभीषण की विदाई पर ही रोकना स्वाभाविक और सहज था।

फिर भी मन में आता है कि अभ्युदय को आगे बढ़ाया जाता तो उसका क्या रूप होता? राजा बनकर राम अपने जनवादी समाजवादी सिद्धांतों का क्या करते? क्या करते वे जब उनके शत्रु राक्षस नहीं, अपनी प्रजा में फैल गए अज्ञान, रूढ़िवाद, जाति-भेद, दास-प्रथा, स्त्रियों के दमन होते? अपने राज्य में नया न्यायप्रिय समाज स्थापित करने का प्रयास राम को कितना महंगा पड़ता, जब लोगों के चिर-परिचित जीवन आधारों में परिवर्तन करना होता? हाँ, अपनी कृति में कोई भी तबदीली या संयोजन लगाने का एकमात्र अधिकार केवल लेखक का ही है। पर जब उपन्यास पढ़ते-पढ़ते पाठक नायक-नायिकाओं की जीवन-कथा आगे बढाने को उत्सुक हैं, तो यह पाठकों के मन पर उपन्यास के गहरे प्रभाव और लेखक की निस्संदेह सफलता का ही प्रमाण है।

संदर्भ :

- Paula Richman- Introduction: the Diversity of the Ramayana Tradition- Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia- Ed- Paula Richman- (Berkeley: University of California Press, 1991) p- 3 – 16
- एक लेख में इन अनुवादों का संक्षेप में वर्णन करना असंभव है। मेरे अपने देश रूस में सब से पहला अनुवाद सन् 1819 में प्रकाशित हुआ था, जब 'पुत्र के शव पर माता-पिता का विलाप' के नाम पर वाल्मीकि रामायण का एक छोटा अंश रूसी पाठकों के लिए उपलब्ध हुआ था। उस समय से अनेक बार रुसी विद्वानों ने वाल्मीकि और तुलसी रामायणों का गद्य और पद्य अनुवाद और विश्लेषण किया था। मास्को के केंद्रीय बाल-थिएटर में प्रर्दशित रामायण नाटक काफी लोकप्रिय था और पंडित जवाहरलाल नेहरु ने उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। तीन साल पहले प्रसिद्ध रुसी संस्कृत विद्वान् पावेल ग्रिन्त्सेर ने वाल्मीकि रामायण का सम्पूर्ण रूसी अनुवाद छपवाना आरंभ किया था। पहले संस्करण में 'बाल कांड' और 'अयोध्या कांड' शामिल थे। दुर्भाग्यवश उस विद्वान की मृत्यु ने यह काम पूरा होने नहीं दिया।
- गोस्वामी तुलसी दास कृत रामचरितमानस, संपादक श्यामसुंदर दास. इलाहाबाद हिन्दुस्तानी अकादेमी (अदिनांकित, Lutgendorf Ph- Interpreting Ramraj: Reflections on the Ramayana, Bhakti and nationalism- Bhakti Religion in North India- Community Identity and Political Action- Ed- D- N- Lorenzen- (Albany: State University of New York Press, 1995) p- 253 – 287.
- Thirteen Plays of Bhasa- Tr- A- C- Woolner and Lakshman Sarup, Delhi: Motilal Banarasidass, 1985.
- K- S- Srinivasan- Ramayanam as Told by Valmiki and Kamban, Delhi: Abhinav Publications, 1994, p- 110 – 111; Kathleen M- Erndl- The Mutilation of Surpanakha- Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia- Ed- Paula Richman, Berkeley: University of California Press, 1991, p- 72& 75.

- सच पूछिये तो मुझे इन आरोपों में इतिहास-ज्ञान की कमी दीखती है। युग-युग में न केवल उपकरण, शस्त्र, पोशाक इत्यादि बल्कि लोगों का चिंतन-मनन भी बदल जाता है। जो आज हमें अन्याय लगता है वह प्राचीन समाज में प्रशंसा के योग्य था। आज के विचारों के आधार पर राम के सीता त्यागने की निंदा करने वाले लोग उन्हें युद्ध में टेंकों या वायुसेना का प्रयोग न करने की आलोचना क्यों नहीं करते? वैसे भी धर्म, मर्यादा या देशभक्ति के लिए अपना सब कुछ त्यागने वाले व्यक्ति सभी देशों में पूज्य होते हैं। राम के वही आलोचक स्कूल से ही इब्राहीम (Abraham)का सम्मान करते रहते हैं जो अपनी ईश्वर-भक्ति में अपने बेटे का बलि चढ़ाने को तैयार था या जूलियस सीजर का गुणगान करते रहते हैं जिस ने 'सीजर की पत्नी संदेह-मुक्त होनी चाहिए' के बहाने में राम का सा कार्य किया था, परंतु राम के एकदम विपरीत, पत्नी को त्यागने के बाद अनगिनत स्त्रियों के साथ सुख-भोग किया था।

- Clinton Seely- The Raja's New Clothes: Redressing Ravana in Meghanadavadha Kavya- Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia- Ed- Paula Richman, Berkeley: University of California Press, 1991, p- 137 – 152; Velcheru Narayana Rao, The Politics of Telugu Ramayanas- Colonialism, Print Culture and Literary Movements- Questioning Ramayanas: a South Asian Tradition- Ed- Paula Richman, Berkeley: University of California Press, 2001, p- 159 – 186

- इस लेख के लिए मैंने 'अभ्युदय' की अभिरुचि प्रकाशन द्वारा 1998 में प्रकाशित दो-खंडीय संस्करण का प्रयोग किया है। यह पुस्तक स्वयं कोहलीजी की भेंट थी जिसके लिए मैं उनकी आभारी हूँ।

- F- E- Pargiter- Ancient Indian Historical Tradition, London: Oxford University Press – Humphrey Milford, 1922, p- 277 – 278; Ananda W- P- Guruge- The Society of the Ramayana , Delhi: Abhinav, 1991, p- 83 – 85.

- वाल्मीकि के राम के उन गुणों का विश्लेषण देखिये: Brockington J- L- Righteous Rama- The Evolution of an Epic, Delhi: OÛford University Press] 1985].

- J- L- Brockington- The Sanskrit Epics, Leiden: Brill, 1998, p- 26 – 27.

- गगनांचल-नई दिल्ली, अंक जनवरी-फरवरी 2011 से साभार।

❑❑❑

डॉ. नरेन्द्र कोहली के उपन्यास 'महासमर' में श्रीकृष्ण : मानव से महामानव की ओर

● डॉ० किरण निर्वाल

आधुनिक हिन्दी-जगत् में विशेषकर कथा-साहित्य में डॉ० नरेन्द्र कोहली का अप्रतिम स्थान है। उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा हिन्दी की विभिन्न विधाओं जैसे कहानी, व्यंग्य, नाटक, उपन्यास तथा आलोचना आदि में लेखन से न केवल उसे समद्ध बनाया अपितु उसमें मौलिकता का बीजारोपण करने की नई परंपरा की बुनियाद रखी। उन्होंने अपनी आधुनिक दृष्टि से कथा-साहित्य में एक नई किन्तु विवेकशील विचारधारा को जन्म दिया। डॉ० कोहली द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यासों में मानवता के क्रमिक विकास की यात्रा की व्याख्या की गई है। साथ ही उसमें आधुनिक युग की ज्वलंत समस्याओं की आधारपीठिका भी स्थापित की गई है।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में मनुष्य आधुनिकता की दौड़ में अंधाधुंध भाग रहा है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रचार-प्रसार से युवा पीढ़ी निरन्तर दिग्भ्रमित हो रही है। ऐसे में साहित्यकार डॉ० कोहली ने 'महासमर' उपन्यास में सत्य, न्याय, धर्म, मानवता तथा सामाजिक नैतिक मूल्यों की स्थापना करने के लिए पौराणिक परिवेश की ओर मुड़ने की आवश्यकता महसूस की। उन्होंने मानवीय जीवन की जटिलताओं को महाभारत में देखा तथा उसका विश्लेषण कर यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने उपन्यास 'महासमर' में आधुनिकता और परम्परा का समन्वय करके उसके पात्रों को मौलिकता प्रदान की है। जिसमें विशेष हैं श्रीकृष्ण। डॉ० कोहली ने श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक एवं भौतिक रूप का संतुलन सामंजस्यपूर्ण दृष्टि से किया है।

ऐसे में साहित्यकार डॉ० कोहली ने 'महासमर' उपन्यास में सत्य, न्याय, धर्म, मानवता तथा सामाजिक नैतिक मूल्यों की स्थापना करने के लिए पौराणिक परिवेश की ओर मुड़ने की आवश्यकता महसूस की। उन्होंने मानवीय जीवन की जटिलताओं को महाभारत में देखा तथा उसका विश्लेषण कर यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

साधारणत: कृष्ण को 'महाभारत' का नायक माना जाता है। डॉ० कोहली के उपन्यास में कृष्ण पाण्डवों के सहायक हैं किन्तु पूरी कथा के नायक नहीं हैं। कृष्ण का वर्णन कथा प्रवाह में आता जरूर है,

लेकिन वह मात्र पाण्डवों के नेता बन कर रहे, कथा के नहीं।

डॉ. कोहली के अनुसार ''सामान्य धारणा के अनुसार 'महाभारत' के नायक कृष्ण ही हैं किन्तु 'भागवत' और 'महाभारत ही नहीं 'हरिवंश पुराण' को भी साथ रखें और उनका तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण की जो स्थिति भागवत पुराण में है वह महाभारत में नहीं है। 'भागवत' में विभिन्न यादव वंशों के इतिहास के साथ-साथ कृष्ण के जन्म की संपूर्ण कथा सविस्तार वर्णित है, जबकि महाभारत में मूल कथा कुरुवंशियों की है और पाण्डवों की सहायता के लिए बीच-बीच में कृष्ण उपस्थित होते हैं। वस्तुतः कृष्ण का व्यक्तित्व इतना विराट सामर्थ्यवान तथा महान है कि उनकी उपस्थिति मात्र से अन्य सारे पात्र बौने हो जाते हैं। किन्तु चूँकि महाभारत कृष्णकथा नहीं है इसलिए उसके नायक कृष्ण नहीं माने जा सकते।''[1]

वास्तव में कृष्ण का व्यक्तित्व इतना विराट है कि किसी एक रूप में समझना मुश्किल हो जाता है। साधारणीकरण से वह दो रूपों में विभक्त हो सकते हैं: 1. मानव के रूप में-भौतिक सांसारिक दृष्टिकोण से। 2-ईश्वर के रूप में-आध्यात्मिक दृष्टिकोण से।

मानव के रूप में वह कर्मों एवं आदर्शों द्वारा महामानव के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं अन्ततः वही महामानव ईश्वर लगने लगता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से चारों ओर कृष्ण-ही-कृष्ण हैं, वे ही अर्जुन को गीता का उपदेश दे रहे हैं, वे ही अर्जुन के रथ का सारथ्य कर रहे हैं, वे ही युद्ध के घात-प्रतिघातों की योजनाएँ बना रहे हैं, किन्तु लौकिक दृष्टि से वे शस्त्र धारण नहीं कर रहे। वे एक योद्धा के सारथि मात्र हैं और सारथि योद्धा का सहायक उपकरण है, इसलिए उस युद्ध के योद्धा पाण्डव ही हैं।

भौतिक दृष्टिकोण : श्रीकृष्ण मानव से महामानव के रूप में

श्रीकृष्ण के पिता का नाम वसुदेव था, माता का देवकी, जिस कारण वह देवकीनंदन के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। बलराम उनके बड़े भाई थे और वे यादव वंश के प्राचीन सात्व या वृष्णि शाखा में उत्पन्न हुए थे। कृष्ण पांडवों के सबसे बड़े समर्थक, मित्र तथा संरक्षक थे। कंस का वध कर उन्होंने मथुरा में उग्रसेन के नेतृत्व में शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। कृष्ण के मन में कुन्ती, भीष्म तथा कर्ण के प्रति उन्मुक्त प्रेम था। उन्होंने यादवों के साथ दूर सागरतट पर द्वारका का निर्माण कर उसकी सुरक्षा की व्यवस्था की।

महासमर के कथाक्रम में वे लोकरक्षक के रूप में कई स्थानों पर नज़र आते हैं, जैसे श्रीकृष्ण जानते थे कि युधिष्ठिर धर्मराज्य की स्थापना करना चाहते थे। उन्होंने युधिष्ठिर की हर संभव-असंभव सहायता की और युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ करवाया। कंस-वध का उद्देश्य भी लोकहित-रक्षा ही था। जरासंध और शिशुपाल-वध करने का कारण भी अन्य राज्यों और जनसामान्य को उनके अत्याचारों से छुटकारा दिलाना था।

वासुदेव कृष्ण बड़े नीतिकुशल थे। भीम द्वारा जरासन्ध का वध कर दिये जाने के बाद, उन्होंने भयभीत पुत्र सहदेव को अभयदान देकर उसके पितृराज्य पर अभिशिक्त कर दिया और सहदेव को अपना अभिन्न मित्र बनाया।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भीष्म ने आग्रह किया कि सभी महाशक्तिशाली राजाओं में सर्वप्रथम अर्घ्य श्रीकृष्ण को समर्पित किया जाये। भीष्म की आज्ञा मिलने पर सहदेव ने यदुवंशभूषण कृष्ण को शास्त्रीयविधि से उत्तम अर्घ्य प्रदान किया। उस समय श्रीकृष्ण ने ऋषियों के चरण धोने की सेवा सहर्ष स्वीकार की। यादवों की सुरक्षित नगरी स्थापित की, किन्तु स्वयं राजसिंहासन ग्रहण नहीं किया। वह वास्तव में शीर्ष स्थान पर विराजने का अधिकार रखते थे, किन्तु कभी उन्होंने उच्च पद या सिंहासन स्वीकार न करते हुए साधारण मानव जैसा जीवन व्यतीत किया। राजसूय यज्ञ में कृष्ण की हो रही अग्रपूजा को शिशुपाल सह नहीं सका। उसने श्रीकृष्ण पर आक्षेप किया। उसके आक्षेप को सहन न कर सकने के कारण महारथी भीष्म समस्त राजाओं से बोले कि श्रीकृष्ण के अलावा इस समय और कोई व्यक्ति नहीं जो पूज्यतम हो। सबसे अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति श्रीकृष्ण हैं।

शिशुपाल श्रीकृष्ण की निन्दा करते हुए उन्हें युद्ध के लिए ललकारने लगा। तब श्रीकृष्ण बोले कि इस सम्पूर्ण राजसमूह के बीच इसने मेरा जो अपमान किया है उसे मैं अब और अधिक सह नहीं सकता। यह अपने अत्यधिक अहंकार और अत्याचार के कारण अब वध्य हो चुका है। इसकी माता की याचना के अनुसार मैंने इसके सौ अपराधों को क्षमा कर दिया है। इतना कहकर उन्होंने अपने सुदर्शन चक्र से उसका वधकर एक पापी का अन्त किया।

श्रीकृष्ण कितने ही लोगों के उपदेशक-मार्गदर्शक भी बने। उन्होंने अपने सार्थक उपदेशों से कितनों का मार्ग दर्शन किया, कहना कठिन है। महाभारत का शायद ही ऐसा पात्र हो जिसको श्रीकृष्ण ने धर्म का पाठ न पढ़ाया हो।

अर्जुन ने सौभाग्य एवं तपस्या से श्रीकृष्ण जैसा मित्र पाया। इसलिए श्रीकृष्ण का सबसे अधिक सान्निध्य उसे प्राप्त हुआ और उनका मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण वन में जाकर कठिन तपस्या करने के पक्ष में नहीं थे। उनके अनुसार ''सहज हो कर जीओ और व्यक्ति सहज होता है केवल अपनी स्वाभाविक स्थिति में। इसलिए अपने स्वभाव को जानो, अपनी प्रकृति को समझो। तुम्हें अपने स्वार्थ से आसक्त हो कर शस्त्रबल से दमन और अपहरण नहीं करना है, अनासक्त होकर शस्त्र-कौशल से आर्त्त-त्राण करना है, समाज को अनुशासित करना है, धर्म-राज्य की स्थापना करनी है। वह आगे बढ़ कर कहते हैं ''मैंने और भैया बलभद्र ने कंस का वध किया, यादवों को मुक्त किया और द्वारका का निर्माण किया, किन्तु न हमें द्वारका बाँध सकी न द्वारका का राजसिहांसन। वह अनासक्त कर्म था। निष्काम कर्म। निष्काम कर्म बंधन नहीं होता। वह घोर कर्म के मध्य भी अकर्म की स्थिति उत्पन्न करता है।''[2]

कई घटनाओं में वे पाण्डवों के रक्षक कहलाए। चीर-हरण के समय द्रौपदी सभा में उपस्थित अपने पाँच पतियों और कुल-वृद्धों को सहायता के लिए पुकारती है, किन्तु सभी अपने-अपने धर्मों से बंधे होते हैं। तब द्रौपदी अपना परिचय देते हुए कहती है कि ''मैं वासुदेव श्रीकृष्ण की सखी हूँ, मेरा ऐसा अपमान, जैसा कभी किसी साधारण दासी का भी नहीं हुआ। शत्रुघाती मधुसूदन! सखा कृष्ण! कहाँ हो तुम! मेरे पति मेरी रक्षा नहीं

कर रहे। समर्थ होकर भी वे धर्म के रूप में अधर्म के बंधन में बंधे हैं। स्वयं अपनी मर्यादा से बंधे वे असमर्थ हैं। तुम जानते हो, यह धर्म नहीं है। इनका नाश करो कृष्ण। मेरी रक्षा करो।''[3] श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही दु:शासन को सुदर्शनचक्र याद आ गया और वह माथा पकड़ कर बैठ गया।

दूसरा उदाहरण-दुर्वासा ऋषि सहस्रों सैनिकों के साथ पाण्डवों के आश्रम में भोजन-ग्रहण के लिए पहुँचे तब भी कृष्णा ने अपने सखा श्रीकृष्ण को सहायता के लिए पुकारा और वह प्रकट हुए और उसकी सहायता की।

कृष्णा अपने पतियों को नहीं, कई परिस्थितियों में श्रीकृष्ण से प्रश्नोत्तर करती है, उलाहना देती है तथा पुत्रों की मृत्यु के पश्चात श्रीकृष्ण से रो कर विलाप करती है, क्योंकि वह द्रौपदी के सच्चे सखा थे।

द्रौपदी का विवाह पाण्डवों के साथ तथा सुभद्रा का विवाह अर्जुन के साथ करवाना कृष्ण की दूरदर्शिता को प्रदर्शित करता है। धर्म-राज्य की स्थापना के लिए वे अर्जुन एवं उसके भाइयों को सशक्त बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने पांचाल-नरेश की पुत्री द्रौपदी का विवाह पाण्डवों से करवाया, यह जानते हुए भी कि द्रुपद कौरवों को अपना दुश्मन समझता है। लेकिन, महायुद्ध में द्रुपद की सहायता अत्यन्त आवश्यक भी था।

उन्हें पूर्वानुमान था कि पाण्डवों या कौरवों के मध्य युद्ध की स्थिति आई तो सम्भवत: यादवों को दुर्योधन का पक्ष लेना होगा, इसलिए उन्होंने अक्रूर से अर्जुन का पक्ष लेते हुए कहा था ''धर्म उसकी ओर है, इसलिए-मैं उससे युद्ध करना नहीं चाहता। मैं धर्म के विरुद्ध लड़ना नहीं चाहता, क्योंकि जहाँ धर्म है वहीं जय भी है।''[4]

श्रीकृष्ण को पूर्ण विश्वास था कि जिस धर्मराज्य की स्थापना वह करना चाहते हैं, वह यादवों द्वारा नहीं हो सकती थी। यह कार्य युधिष्ठिर ही कर सकते थे।

इस प्रकार कृष्ण अपने संपूर्ण जीवन काल में धर्म और अधर्म की मध्य रेखा बने रहे बावजूद इसके कभी उनके अपने सगे-सम्बन्धी एवं कभी मित्रगण उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखते रहे। वे अपने ही सम्बन्धियों के मध्य मायावी कहलाए। द्रुपद उनपर पूरा विश्वास करते थे किन्तु वे भी मानते थे कि-''सामान्यत: घटनाएँ कृष्ण की इच्छा के विरुद्ध नही घटतीं। कृष्ण की इच्छा ही घटनाओं को आकार देती है।''[5] पाण्डवों का रहस्योद्घाटन होने पर द्रुपद क्रोधित हो कर कृष्ण को 'मायावी' ही कहते हैं जिसने उन्हें अपनी बातों में बहला लिया था। कृष्ण उन्हें समझाते हुए कहते हैं, ''राजन्! मेरी बुद्धि कहती है कि युद्ध हो या न हो, आपकी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी होगी। युद्ध नहीं हुआ तो हस्तिनापुर की सत्ता पांडवों के हाथ में होगी। कृष्णा अपनी बुद्धि और ज्ञान से अपने श्वसुर-कुल पर शासन करेगी। तब द्रोण जैसे राजश्रित आचार्य के लिए, हस्तिनापुर में कोई स्थान नही होगा। और यदि पाण्डवों को सत्ता नहीं सौंपी गयी, तो धृतराष्ट्र-पुत्रों से पाण्डवों का युद्ध होगा। अर्जुन के सबसे बड़े सहायक होंगे आप तथा आपके मित्र मत्स्य! क्या आपकी

प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी?''[6] यह सुनकर द्रुपद बोले कृष्णा भाग्यशाली है कि तुम्हारे जैसा उसे सखा प्राप्त हुआ।

श्रीकृष्ण मानते थे कि प्रतिज्ञा से अधिक धर्म की रक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रतिज्ञा का धर्मत: पालन करना ही सब कुछ नहीं होता, ''अनेक बार हम जिसे धर्म समझ रहे होते हैं, वह धर्म नहीं होता। धर्म तो वह है, जो सत्य को धारण करता है। कोई व्यक्ति क्रोध न करने की साधना करे और अपना मान-अपमान न माने, यह तो ठीक है किन्तु वह अपनी आँखों के सम्मुख असहाय बालक की हत्या और अबला स्त्री के साथ अत्याचार देखता रहे क्योंकि उसे क्रोध नहीं करना, तो यह धर्म कैसे हो सकता है। मैं धर्म की रक्षा में तत्पर हूँ, धर्म मेरी रक्षा कर लेगा। भीष्म का प्रतिकार करने के लिए भी मैं दो बार तत्पर हुआ था, किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी। मैं प्रयत्न में हूँ कि इस बार भी अर्जुन को कहीं और से सहायता मिल जाए। मुझे स्वयं शस्त्र लेकर उसकी रक्षा न करनी पड़े। कौन जाने इस बार क्या हो, किन्तु हमें प्रत्येक स्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए। ''[7]

इस प्रकार श्रीकृष्ण क्षत्रिय-अहंकार को त्याग केवल धर्म-रक्षा की बात करते हैं, क्योंकि जो धर्म की रक्षा करता है धर्म स्वयं उसकी रक्षा करता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण : ईश्वर के रूप में

श्रीकृष्ण और अर्जुन परमात्मा और जीवात्मा के प्रतीक हैं। धृतराट्र और उसके सौ पुत्र अनुभूत अहं और इसकी कामनाओं एव आवेगों के पुंज के द्योतक हैं जो अंधे अहं के चारों ओर चिपटे रहते हैं और अपने चारों ओर तुच्छ संसार का निर्माण कर लेते हैं। भारतीय दर्शन में बोध या चेतना बुद्धि के विचार के साथ काम करती है जो ज्ञानात्मक साध न और सामान्य जीवन में मानव का प्रमुख परामर्शदाता है और उसे पाप-पुण्य, सद्-असद् में निर्णय करने योग्य बनाती है। अर्जुन जीवात्मा का प्रतीक है जो संदेह और आपत्काल में निरन्तर श्रीकृष्ण के उपदेश सुनता है, अपने या अन्य के प्रति होने वाले परिणामों के विचार के बिना ही कर्तव्य भावना से उनकी शिक्षा पर आचरण करता है।

युद्ध प्रारंभ होने से पहले दुर्योधन और अर्जुन दोनों कृष्ण से सहायता माँगने आते हैं। कृष्ण जानते हैं तो वे घोषणा करते हुए उन दोनों को आश्चर्यचकित कर देते हैं कि मैं स्वयं आसन्न युद्ध में शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा क्योंकि मेरा आप दोनों के साथ सम्बन्ध है फिर भी मैं समान मात्रा में आप लोगों के चयन के आधार पर सहायता करूँगा। एक को मैं अपनी सेना दूँगा, दूसरे की निशस्त्र सेवा करूँगा। आध्यात्मिक दृष्टि से यह परमात्मा की अपनी माया की लीला है। अर्जुन और दुर्योधन-देवी और आसुरी शक्तियाँ हैं।

युद्ध भूमि पर दार्शनिक श्रीकृष्ण जो अर्जुन के साथ युद्ध-रथ पर बैठे हैं वह आध्यात्मिक समस्याओं पर उपदेश देते हैं। जब हम योद्धा और सारथी के छद्मवेश को

हटा कर देखते हैं तो उस दृश्य की विचित्रता लुप्त हो जाती है। मूल प्रतीक रथ का है, एक ऐसा प्रतीक जो उपनिषदों में वैयक्तिक आत्मा शरीर-रथ पर आरुढ़ बताई गई है, बुद्धि सारथी है। इसी का परिष्कार गीता में हुआ है, जहाँ वैयक्तिक आत्मा अब भी सवार है किन्तु सारथी का स्थान स्वयं ब्रह्म ने ले लिया है जो बुद्धि से भी परे है और यहाँ उसका प्रतीक भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

श्रीकृष्ण, 'महासमर' में कई स्थानों पर कहते हैं कि वे ब्रह्म, परमात्मा, चरमसत्य, परिवर्तनहीन आदि सिद्धांत, माया के बन्धन से मुक्त, पाप-पुण्य से अतीत तत्त्व के मूल प्रतीक हैं।

'महासमर' के अन्तिम भाग 'निर्बन्ध' में भीष्म कहते हैं ''तुममें साक्षात् विष्णु का रूप देखता हूँ वासुदेव! अत: विष्णु के सारे नाम तुम्हारे ही नाम लगते हैं। तुम ही हरि हो, तुम ही मुरारि हो, तुम ही कैटभारि हो।'' [8]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण को यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाये तो वह बहुत सरल प्रतीत होते हैं। वह कर्म प्रधानता को स्वीकारते हैं। दुर्योधन के राजमहल के भोगों को छोड़कर वे विदुर के घर का साग खाना पसन्द करते हैं। वे ऊँचा पद ग्रहण न कर अर्जुन का सारथ्य स्वीकार करते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में अतिथियों के जूठे पत्तल उठाते हैं, ऋषियों के चरण धोते हैं, गायों और अश्वों की सेवा करते हैं। उनके आलोचकों के शब्दों में वे कूटनीतिज्ञ हैं। उनके लिए सम्मान, सम्मान नहीं और कोई अपमान, अपमान नहीं। इन्हीं विशेषताओं के कारण वे साधारण से व्यक्ति से महामानव या कहें ईश्वर के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। शाप देती गाँधारी के भी मन को निर्मल कर अपने देवत्व को पहचानने को कहते हैं। भीतर का महासमर लड़ने की सलाह देते हैं। इसलिए वह मुक्त हैं कोई साधारण मानव नहीं।

संदर्भ :

1. जहाँ है धर्म वहीं है जय-डॉ० नरेन्द्र कोहली-वाणी प्रकाशन: प्रथम संस्करण-1993-पृ.सं. 191
2. महासमर-भाग:4-'धर्म'-डॉ० नरेन्द्र कोहली-वाणी प्रकाशन: प्रथम संस्करण-1992-पृ.सं. 168, 169
3. महासमर-भाग:4-'धर्म'-डॉ० नरेन्द्र कोहली-वाणी प्रकाशन: प्रथम संस्करण-1992-पृ.सं. 410
4. महासमर-भाग:4-'धर्म'-डॉ० नरेन्द्र कोहली-वाणी प्रकाशन: प्रथम संस्करण-1992-पृ.सं. 201
5. महासमर-भाग:3-'कर्म'-डॉ० नरेन्द्र कोहली-वाणी प्रकाशन: प्रथम संस्करण-1991-पृ.सं. 323
6. महासमर-भाग:3-'कर्म'-डॉ० नरेन्द्र कोहली-वाणी प्रकाशन: प्रथम संस्करण-1991-पृ.सं. 327
7. महासमर-भाग:8-'निर्बन्ध'-डॉ० नरेन्द्र कोहली-वाणी प्रकाशन: प्रथम संस्करण-2001-पृ.सं. 117
8. महासमर-भाग:8-'निर्बन्ध'-डॉ० नरेन्द्र कोहली-वाणी प्रकाशन: प्रथम संस्करण-2001-पृ.सं. 520

❑❑❑

दिल्ली।

नरेन्द्र कोहली का प्रदेय

● सतीश पांडेय

अपनी प्रहारक विशेषता द्वारा सहज मानवीय जीवन-दृष्टि का विकास करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वस्तुतः उसकी सार्थकता इसी में निहित है कि वह किस विसंगति पर कितना प्रभावी ढंग से प्रहार करता है और व्यंग्यकार उसके माध्यम से किन मूल्यों की स्थापना करना चाहता है। बहुत बार ऐसा होता है कि जिन मूल्यों की रक्षा की जानी चाहिए वे ही ध्वस्त होते नजर आते हैं। ऐसे में व्यंग्यकार का यह दायित्व होता है कि वह मानव जीवन की बेहतरी के लिए उपयोगी एवं स्वस्थ मूल्यों की न सिर्फ वकालत करे, बल्कि उनकी स्थापना के लिए अपना योग दें।

इस तरह व्यंग्यकार को जहाँ स्वस्थ मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न करना होता है, वहाँ उसे अस्वस्थ एवं गैरजरूरी मूल्यों पर करारा प्रहार भी करना होता है, नहीं तो व्यंग्यकार नष्ट न होने योग्य मूल्य के प्रति अपनी तकलीफ अभिव्यक्त करता रहेगा और ऐसे मूल्यों की प्रगति अनवरत कई गुना होती जायेगी, जिन्हें नष्ट किया जाना चाहिए। इस स्थिति को और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ० शेरजंग गर्ग ने लिखा है कि 'समाज को इन दोनों ही प्रकार के व्यंग्यकारों की संयुक्त भूमिका का बहुत लाभ पहुँच सकता है क्योंकि जहाँ पहली कोटि का व्यंग्यकार आँखें तरेरता हुआ, हण्टर हिलाता हुआ और होंठों पर कुटिल शातिर मुस्कान धारण किए गलत रूढ़ियों, पथ-भ्रष्ट पीढ़ियों और तरक्की की बेबुनियाद सीढ़ियों को झकझोरता है, उनकी खोखली नीवों को और खोखला करता है, वहाँ दूसरी कोटि का व्यंग्यकार पराजित ईमानदारों और खस्ताहाल उच्च मान्यताओं अथवा विचारधाराओं की पीड़ा को व्यक्त करके तटस्थ, आत्मलीन जनों की आँखों में उँगलियाँ डालकर करुणा के एक स्वच्छ और सक्रिय परिवेश का निर्माण करता है।'

इस तरह व्यंग्यकार को जहाँ स्वस्थ मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न करना होता है, वहाँ उसे अस्वस्थ एवं गैरजरूरी मूल्यों पर करारा प्रहार भी करना होता है, नहीं तो व्यंग्यकार नष्ट न होने योग्य मूल्य के प्रति अपनी तकलीफ अभिव्यक्त करता रहेगा और ऐसे मूल्यों की प्रगति अनवरत कई गुना होती जायेगी, जिन्हें नष्ट किया जाना चाहिए।

व्यंग्य की उपादेयता संबंधी उपर्युक्त विचार-कसौटी पर नरेंद्र कोहली के व्यंग्य साहित्य का मूल्यांकन करने से यह स्पष्ट होता है कि इनकी सजग दृष्टि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, पुलिस, न्याय आदि विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियों पर रही है। इन्हें जो भी गलत दिखाई देता रहा है, उस पर उन्होंने तीव्र प्रहार किया है। उनका व्यंग्यकार कहीं भी समझौता नहीं करता है। वह मुक्त भाव से विसंगतियों पर चोट करता है।

इस प्रहारात्मकता के मूल में नरेंद्र कोहली की चिंता मानवीय भावनाओं के विकास की ओर रही है। वस्तुतः वे अपनी रचनाओं में गुदगुदाने का उद्देश्य नहीं रखते। उनका मकसद विविध संदर्भों में व्यवस्थाजन्य बेतुकेपन का मजाक उड़ाने हुए उससे पीड़ित व्यक्ति की चेतना को झकझोरने का अधिक रहा है। इसीलिए वे अपने समकालीन व्यंग्यकारों से थोड़ा पृथक दिखायी देते हैं।

इनके समकालीन व्यंग्यकारों में परसाई के व्यंग्य अधिक तीखे एवं सीधी चोट करने वाले हैं। उनकी व्यंग्य-दृष्टि से समकालीन जीवन की शायद ही कोई असंगत स्थिति बच पाई हो। उनके व्यंग्यों में तार्किकता भी खुलकर सामने आई है। इस मामले में शरद जोशी के व्यंग्य अधिक उदार नजर आते हैं। कहीं-कहीं पर उनके व्यंग्य भी अधिक परिष्कृत एक सोच के लिए विवश कर देने वाले लगते हैं, किंतु परसाई की तुलना में शरद जोशी की रचनाओं में सामाजिक विकृतियों के विरुद्ध शिष्ट प्रतिक्रिया अधिक दृष्टिगत होती है। इसीलिए रघुवीर सहाय ने शरद जोशी के बारे में यहाँ तक कह डाला है कि शरद जोशी ने चुनी हुई चीजों पर हँसने-हँसाने की दक्षता हासिल कर ली। शरद जोशी के समूचे साहित्य को इसी श्रेणी में रखना उचित नहीं होगा किंतु उनकी रचनाओं में परसाई जैसी सीधी एवं तीखी प्रहारात्मकता का अभाव है। रवीन्द्रनाथ त्यागी भी बहुत हद तक गुदगुदाते अधिक हैं। श्रीलाल शुक्ल ने भारतीय समाज तथा चिंतन, टुच्चेपन तथा उसकी क्षुद्रताओं, कुण्ठाओं, विषमताओं एवं कुटिलताओं के अनेक आयामों के विद्रूपात्मक चित्र प्रस्तुत किए हैं। राग दरबारी जैसी कृति अनूठी व्यंग्यात्मकता लिए हुए है, किंतु उसमें वे अभिजात्य वर्ग की पतनशील प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को बड़ी चतुरता से बचा ले गए हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि श्रीलाल शुक्ल उन टूटे हुए मूल्यों की स्थापना के लिए प्रत्यतनशील नजर आते हैं, जिन्हें टूटकर नष्ट नहीं होना चाहिए था।

इस दृष्टि से नरेंद्र कोहली का व्यंग्य-लेखन दोहरी भूमिका पर सार्थकता लिए हुए हैं जहाँ पतनशील एवं टूटने वाले मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए उनमें छटपटाहट भी है। उन्होंने जीवन के रोज के जाने-पहचाने, सामान्य-से लगने वाले संदर्भों को उठाकर बड़ी ही वस्तुपरकता के साथ पतनशील प्रवृत्तियों पर कटाक्ष किया है तथा जिन मूल्यों को टूटना नहीं चाहिए उनकी प्रतिष्ठा करनी चाही है। दहेज जैसी तमाम सामाजिक विसंगतियों, बदलते सामाजिक-पारिवारिक संबंधों, फैशनपरस्ती, शिक्षा-क्षेत्र से जुड़े लोगों तथा बुद्धिजीवियों आदि पर प्रहार करके इन्होंने न सिर्फ अपनी असहमति और आक्रोश व्यक्त किया है, बल्कि इनके स्थान पर नये, स्वस्थ मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए संकेत भी किया

है। इनकी व्यंग्य लेखनी राजनीतिक क्षेत्र की हर विसंगति पर भी चली है। आज के व्यक्ति-जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला तत्व राजनीति ही है। इस क्षेत्र में छल-छद्म और अवसरवादिता जिस रूप में पनप रही है, उससे मानवीयता को गहरी ठेस पहुँची है। स्वार्थ, सिद्धांतहीनता, भाई-भतीजावाद, कुर्सी का व्यामोह, भ्रष्टाचार, प्रशासन की निष्क्रियता, पुलिस की दायित्वहीनता आदि पर व्यंग्यकार की दृष्टि अत्यंत पैनेपन के साथ मुखर हुई है। इन स्थितियों के कारण सामान्यजन के जीवन को असुरक्षित एवं असुविधाजनक बनाने वाली असंगत स्थितियों के प्रति कोहली की आक्रोशमयी भंगिमा उन्हें सामान्य व्यक्ति के स्वाभाविक विकास का हिमायती बना देती है।

कोहली की मूल चिंता मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की रही है। अतः अपना स्वार्थ साधने के लिए धर्म की दूषित व्याख्या प्रस्तुत करके मानव-मानव के बीच खाई पैदा करने वाले धर्म के ठेकेदारों के प्रति अपना आक्रोश भी इन्होंने व्यक्त किया है। धार्मिक संकीर्णता के कारण उत्पन्न कट्टर साम्प्रदायिकता की भावना से सम्पूर्ण मानव जाति के समक्ष संकट उत्पन्न हो उठा है। इसके मूल कारणों की ओर संकेत करते हुए नरेंद्र कोहली ने व्यक्ति के जीवन-सत्य में हो रहे अवमूल्यन को समाप्त करने का प्रयास किया है। इसलिए लोगों के मन से धार्मिक अंध श्रद्धा को दूर करने तथा ऐसे स्वस्थ मूल्यों की स्थापना पर बल दिया है, जिनसे मानव जीवन का गुणात्मक विकास संभव हो सके।

व्यंग्यकार विघटित होते हुए महत् मूल्यों को स्थापित करने के लिए ही व्यंग्य का कटु एवं दहकता हुआ मार्ग अपनाया है। इस प्रयास में वह कटु चाहे जितना हो ले, लेकिन वह अमानवीय कभी नहीं हो सकता। नरेंद्र कोहली ने भी पूरी प्रहारात्मकता के साथ भारतीय जीवन के उच्च आदर्शों एवं सांस्कृतिक मूल्यों में हो रहे ह्रास पर चिंता व्यक्त की है और आधुनिकता की अंधी दौड़ को मूल्यों के पतन का असली कारण काना है। बाह्य रूप में आधुनिक बनने तथा चिंतन और व्यवहार के धरातल पर दकियानूस बने रहने वालों पर इन्होंने गहरी चोटें की हैं। भारतीय संस्कृति की उपेक्षा कर पश्चिम के प्रति अंधश्रद्धा रखने वालों को आड़े हाथों लेते हुए व्यंग्यकार कोहली ने भारतीय अस्मिता के महत्व को स्थापित करना चाहा है। व्यक्ति जीवन में खत्म होते हुए नैतिक मूल्यों के ह्रास को भी इन्होंने जगह-जगह व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति दी है।

आज जिस ढंग से चरित्रहीनता पनप रही है, ईमानदारी और त्याग जैस शब्द खोखले और अर्थहीन होते जा रहे हैं, इस पर व्यंग्यकार की गहरी चिंता व्यक्त हुई है। उनकी मान्यता है कि इन सबके मूल में धन की अनियंत्रित इच्छा है। अनैतिक कार्यों द्वारा धन बटोरने की यह मानसिकता शोषण की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है और एक बार शोषण-क्रम शुरू हो जाने पर मनुष्य के भीतर सभी मानवीय भावनाओं को ताक पर रखकर धन इकट्ठा करने की अमानवीय प्रवृत्ति पनप उठती है। नरेंद्र कोहली ने गरीबी, महंगाई, कालाबाजारी, मिलावट आदि अनेक असंगत स्थितियों के मूल में स्थित अमानवीय भावनाओं को भी अपने व्यंग्य का विषय बनाया है तथा सामान्य व्यक्ति के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है।

व्यक्तिपरक एवं आत्मपरक व्यंग्य नरेंद्र कोहली के व्यंग्य लेखन का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू है। इसमें इन्होंने जहाँ ऐतिहासिक-पौराणिक एवं समसामयिक राजनीतिज्ञों पर व्यंग्य-प्रहार किया है, वहाँ असंगतियों के बीच जी रहे व्यक्ति पर कटाक्ष करने के लिए आत्मव्यंग्य भी किया है। इसके माध्यम से इनका उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष का मजाक उड़ाना न होकर उसकी कार्य पद्धति की विसंगतियों को उजागर करते हुए आज के जीवन को संतुलित बनाने की इच्छा व्यक्त करना रहा है।

शिक्षा और साहित्य से जुड़े होने के कारण नरेंद्र कोहली ने इस क्षेत्र की असंगतियों को बहुत नजदीक से अनुभव किया है। इसीलिए इस क्षेत्र में व्याप्त अनियमितताओं एवं विसंगतियों की प्रभावी अभिव्यक्ति इनकी व्यंग्य-रचनाओं में हुई है। चाहे शोध की ह्रासोन्मुख स्थिति हो या शोधार्थी का शोषण, कोहली ने बड़ी ही बारीकी से इन स्थितियों को परखते हुए उन पर प्रहार किया है तथा उनके परिष्कार पर बल दिया है। इसी प्रकार छद्म साहित्यिकों, संपादकों, पाठकों एवं प्रकाशकों संबंधी अनेक विसंगतियों पर इनकी रचनाओं में करारा व्यंग्य प्रस्तुत हुआ है।

फिल्मों ने वर्तमान जीवन को विशेषत: युवा-वर्ग को बेहद प्रभावित कर रखा है। इसके प्रभाव के कारण जीवन में भी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। खासतौर पर जब फिल्मी ढंग का अयथार्थवादी जीवन जीने का प्रयास करते हुए लोग अपने यथार्थ जीवन में जटिलताओं का अनुभव करते हैं, तब स्थिति अत्यंत कठिन हो जाती है। उन्होंने फिल्मों में चित्रित पति-पत्नी संबंध, फिल्म संगीत, डायरेक्टर की दखलंदाजी आदि फिल्म जीवन पर प्रहारात्मक व्यंग्य-रचनाएँ लिखी हैं।

इस तरह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त असंगतियों के प्रति नरेंद्र कोहली की दृष्टि न सिर्फ सजग रही है बल्कि उनके मन का गहरा असंतोष भी मुखर हुआ है। इस असंतोष द्वारा सामान्य मानव-मन को पीड़ित करके व्यंग्यकार को जगाने का उपक्रम ही अधिक किया है।

इन व्यंग्यों की प्रभावात्मकता उनके अभिव्यक्ति कौशल से और भी गुणीभूत हो गई है। इनकी भाषा इतनी द्रूत एवं तीखी है कि पाठक अभी एक व्यंग्य प्रहार से उबर भी नहीं पाता है कि उससे भी अधिक तेज और दमदार चोट उसे और झेलनी पड़ जाती है। इसीलिए डॉ० देवेश ठाकुर ने संकेत किया है कि कोहली के व्यंग्य का आनंद तभी उठाया जा सकता है, जब उसकी भाषा की द्रूतता को पकड़ने की क्षमता पाठक में हो। उनकी तीखी, चुभती हुई है। इसका कारण यह है कि व्यंग्य के शिल्प के प्रति नरेंद्र कोहली अत्यंत सजग रहे हैं। उन्होंने पुनरावृत्ति के संकट को समझते हुए यह स्वयं ही स्वीकार किया है कि 'किसी व्यंग्यकार की कुछ ही रचनाएँ पढ़कर पाठक उससे पुनरावृत्ति की शिकायत करने लगता है। इस पुनरावृत्ति से बचने के लिए ही लेखक को विधाओं तथा तकनीकों के वैविध्य का सहारा लेना पड़ता है।' लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे शिल्प को आरोपित करने के पक्षधर हैं। उनके अनुसार कथ्यगत वैविध्य होने पर शिल्पगत विविधता अपने आप आ जाती है। 'व्यंग्य तभी लिखता हूँ, जब केवल व्यंग्य लिखने के

लिए मेरे पास कुछ नया हो। लिखने को नया हो तो शिल्प भी नया बन जाता है। इसीलिए नरेंद्र कोहली व्यंग्य को एक विधा और इसके कथ्य और शिल्प को अन्य विधाओं के कथ्य और शिल्प से पृथक मानते हैं।

शिल्पगत विविधता की दृष्टि से नरेंद्र कोहली का व्यंग्य साहित्य अत्यंत ही समृद्ध एवं बहुआयामी है। यदि इन्होंने 'आश्रितों का विद्रोह' औपन्यासिक शिल्प में लिखा है तो 'पांच एब्सर्ड उपन्यास' अपने कथ्य की एब्सर्डिटी के अनुरूप एक अलग शिल्प में अभिव्यक्त हुआ है, जो उपन्यास के निकट है लेकिन उसे पूर्णतया उपन्यास भी नहीं कहा जा सकता। व्यंग्य-निबंध तो हैं ही, इनकी कहानियाँ भी व्यंग्यात्मक भूमि पर ही अधिक लिखी गई हैं यहाँ तक कि नाटक 'शंबूक की हत्या' भी व्यंग्य-नाटक बनकर ही अभिव्यक्त हुआ है।

इस तरह इनकी व्यंग्य यात्रा निबंध, उपन्यास और नाटक जैसी प्रमुख विधाओं तक व्याप्त है। 'आश्रितों का विद्रोह' में सत्ता के प्रति आश्रित जनता का विद्रोह उभरा है। इसके माध्यम से व्यंग्यकार ने इस तथ्य पर प्रहार किया है कि किस तरह शासक वर्ग जनतंत्र की आड़ में अपनी कमजोरियों को छिपा लेता है। इसमें जनता को आश्रित, आलसी एवं चेतना शून्य बनाकर शासन करने का षड्यंत्र व्यंग्यात्मक रूप में उभारा गया है। सामान्य जनता द्वारा शासन-व्यवस्था के प्रति स्पष्ट विद्रोह प्रकट करने वाला संभवत: यह हिंदी का पहला उपन्यास है।

'पाँच एब्सर्ड उपन्यास' की रचना रचनाकार ने स्थितियों के बेतुकेपन के कारण विवश होकर की है। अस्पताल के उसके निजी अनुभव इसमें जिस ढंग से व्यक्त हुए हैं, वह पीड़ित व्यक्ति का व्यवस्था पर जोरदार तमाचा है। इसी तरह कॉलेज के बेतुके परिवेश, मुहल्ले के साहबी जीवन का बेतुकापन तथा मुहल्ले के उच्च मध्यवर्गीय जीवन की विसंगति इनमें व्यंग्यात्मक रूप से व्यक्त हुई है। इनमें व्यक्त सादृश्य-विधान ने प्रस्तुति शिल्प में एक नयापन ला दिया है। व्यंग्य निबंधों और कहानियों का विषय करीब-करीब जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों पर करारी चोट करने वाला है। 'शंबूक की हत्या' आधुनिक शासन पद्धति को दुर्बलताओं के कारण उत्पन्न विसंगतियों पर व्यंग्य चोट करने वाली नाट्य-रचना है जिसे पौराणिक कथा का आधार बनाकर अभिव्यक्ति दी गई है।

इस तरह व्यंग्य का मूल्यांकन करने का यदि कोई मानदंड है और उस मानदंड पर नरेंद्र कोहली की व्यंग्य-रचनाओं को मूल्यांकित किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि इन्होंने समकालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों पर जहाँ करारी चोट की है, वहाँ व्यंग्य-प्रहार द्वारा इन्होंने उन मूल्यों की प्रतिष्ठा भी करनी चाही है, जिससे व्यक्ति जीवन स्वस्थ एवं समृद्ध तथा प्रत्येक व्यक्ति परिष्कृत जीवन की दिशा में प्रशस्त हो सके। इस प्रयास में इनकी पहल शिल्पगत प्रभावशालिता, ताजगी तथा भाषागत पैनेपन के कारण अधिक उल्लेखनीय बन पड़ी है।

❑❑❑

समकालीन हिन्दी व्यंग्य के पुरोधा

● सी. भास्कर राव

आधुनिक और समकालीन हिंदी व्यंग्य के इतिहास में व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली का एक विशेष स्थान और महत्व है। आधुनिक व्यंग्य की धारा हमें भारतेंदु युग से ही मिलती है, लेकिन समकालीन व्यंग्य साहित्य को एक गंभीर और महत्वपूर्ण विधा के रूप में स्थापित करने वाली रचनाकारों की अगली पंक्ति में नरेंद्र कोहली दिखलाई पड़ते हैं। आज हिंदी व्यंग्य का जो चहुमुखी विकास दिखता है, उसका श्रेय विशेषकर उन रचनाकारों को जाता है, जिन्होंने व्यंग्य को उस समय उसकी दशा सुधारने और उसे दिशा देने का प्रयास किया, जब हिंदी व्यंग्य का न कोई सुदृढ़ आधार था और न ही कोइ स्पष्ट स्वरूप। नरेंद्र कोहली एक प्रकार से समकालीन हिंदी व्यंग्य के संस्थापकों में एक हैं। आज का यह व्यंग्य साहित्य, साहित्यिक दृष्टि से जब लगभग अपनी शैशव-अवस्था में था, तब उसे परिष्कृत और परिमार्जित करने, परिपक्व तथा प्रौढ़ बनाने में नरेंद्र कोहली का योगदान विशेष रूप से स्मरणीय है। जब कहानी, उपन्यास, नाटक और निबंध जैसी गंभीर विधाओं को ही साहित्य की शीर्ष विधाएँ माना जाता था और व्यंग्य समाचार पत्रों तक सीमित था, तब उसे साहित्य की अन्य विधाओं के समानांतर स्थापित करने में हिंदी के जिन व्यंग्यकारों की सबसे अहं भूमिका रही, उनमें नरेंद्र कोहली का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। हिंदी व्यंग्य का इतिहास उनके उल्लेख के बिना पूरा नहीं होता है।

जो लोग नरेंद्र कोहली को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, उन्हें यह मानने में कोई संकोच नहीं होगा कि व्यंग्य उनके व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग है। वे केवल लेखन के स्तर पर ही व्यंग्यकार नहीं है, अपनी बोलचाल में भी उनके व्यंग्य काफी रोचक और मारक होते हैं। वे यदि व्यंग्य सायास लिखते तो बहुत

जो लोग नरेन्द्र कोहली को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, उन्हें यह मानने में कोई संकोच नहीं होगा कि व्यंग्य उनके व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग है। वे केवल लेखन के स्तर पर ही व्यंग्यकार नहीं है, अपनी बोलचाल में भी उनके व्यंग्य काफी रोचक और मारक होते हैं। वे यदि व्यंग्य सायास लिखते तो बहुत संभव था कि एक समय के बाद उनके व्यंग्य के रंग फीके पड़ जाते।

संभव था कि एक समय के बाद उनके व्यंग्य के रंग फीके पड़ जाते। चूँकि व्यंग्य उनके व्यक्तित्व से जुड़े होते हैं, इसलिए उनके व्यंग्यों में सहजता मिलती है और साथ ही स्तरीयता भी। कई बार ऐसा होता है कि मित्रमंडली में या परिवार के सदस्यों के बीच वे व्यंग्य की ऐसी चुटकियाँ लेते हैं कि वे किसी साहित्यिक रचना के वाक्यों से कम धारदार नहीं होती हैं। जब कोई रचनाकार अपने व्यक्तित्व के साथ रच-बस कर, घुल-मिलकर कोई रचना लिखता है तो वह एक अनायास अभिव्यक्ति बनती है। उसमें स्वाभाविकता के साथ प्रवाहमयता भी आती है। नरेंद्र कोहली की बोली के व्यंग्य में और उनके लिखे व्यंग्य में कोई अमूलचूल अंतर नहीं होता है। यह उनकी व्यंग्य रचनाओं को बड़ी सहजता से संप्रेषणीय बना देता है। नरेंद्र कोहली आज हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में शीर्ष पर दिखलाई पड़ते हैं। उन्होंने रामकथा, महाभारत और विवेकानंद पर हिंदी में मौलिक उपन्यास लिखकर अपनी उपन्यास कला की महारत प्रमाणित कर दी है। आज ये उपन्यास शृंखलाएँ, हिंदी में सबसे लोकप्रिय हैं। वे अपने लेखन के आरंभ से ही उपन्यास लिखते रहे हैं और हिंदी के सबसे चर्चित कथाकारों और उपन्यासकारों के रूप में उन्होंने अधिक ख्याति अर्जित की। हिंदी की सभी महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से उनकी कहानियाँ प्रकाशित होती थीं और सराही भी जाती थीं। कहानी के समानांतर जब वे व्यंग्य लिखने लगे तो उसमें वे निखरते गए। उनका कथाकार जरा पिछड़ता गया और व्यंग्यकार मुखर होता रहा। कथा लेखक के रूप में उनकी अपनी एक पहचान तो थी ही, लेकिन वे व्यंग्यकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध होते गए। जब वे अन्य व्यंग्यकारों के साथ मिलकर हिंदी व्यंग्य को एक साहित्यिक प्रतिष्ठा दिलाने की मुहिम में जुटे, तब वे हिंदी व्यंग्य-आंदोलन के एक पुरोधा बनते गए और व्यंग्य उनके लेखन में इतना प्रबल होता गया कि उस समय यही प्रतीत हो रहा था कि नरेंद्रजी हिंदी में कल, आज और कल एक सिद्धहस्त व्यंग्यकार के रूप में ही सर्वाधिक जाने-माने जाएँगे, लेकिन जब उन्होंने अपनी उपन्यास शृंखलाएँ एक के बाद एक लिखनी आरंभ की तो स्वाभाविक रूप से उनके व्यंग्यकार के विस्तार में किंचित कमी आई। यह उनके लेखन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। उनका कथाकार, व्यंग्यकार की तेजी के सामने कुछ मंद पड़ा और उपन्यासकार की चमक के सामने उनका व्यंग्यकार कुछ फीका पड़ा। इससे हिंदी व्यंग्य के संसार में किसी भी तरह उनका मूल्य और महत्व कम नहीं होता है, इसलिए कि उनका योगदान इस क्षेत्र में ऐतिहासिक है। वे समकालीन हिंदी व्यंग्य के शानदार भवन की एक जानदार और वजनदार नींव की ईंट हैं।

उनके लेखकीय व्यक्तित्व का कथाकार सबसे प्रबल है। व्यंग्यकार ने कथा को कई बार अपनी रचनाओं का आधार बनाया है, इसलिए व्यंग्य में कथा का आनंद भी है और व्यंग्य की आक्रामकता भी। उनका 'पाँच एबसर्ड उपन्यास' इसका सबसे जीवंत प्रमाण है। उसमें कथा-व्यंग्य भी है और उपन्यास-व्यंग्य भी। व्यंग्य को सीधे एक लेख के रूप में न लिखकर, जब उन्होंने उसे कथारूप में प्रस्तुत किया तो हिंदी व्यंग्य को एक

नया आयाम मिला। हिंदी व्यंग्य-जगत में वे शायद अकेले व्यंग्यकार हैं, जिन्होंने हिंदी व्यंग्य को एक बड़ा ही लोकप्रिय चरित्र दिया-रामलुभाया। इस तरह का व्यंग्य चरित्र विधान हिंदी में अन्यत्र नहीं मिला है। उनका रामलुभाया एक जीता-जागता व्यक्ति बन गया। जिस तरह देश के कई जाने-माने कार्टूनिस्ट के अपने पात्र विशेष होते हैं, जो एक तरह से उनके प्रतिनिधि बन जाते हैं, उसी तरह रामलुभाया व्यंग्यकार नरेंद्र कोहली का एक प्रतिनिधि है। कोई एक चरित्र जब लेखक के व्यक्तित्व के आयाम विशेष का परिचायक बन जाता है, तो वह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है। फिर वह चरित्र केवल व्यंग्य के पृष्ठों का एक पात्र मात्र न रहकर हाडमांस का मनुष्य-सा बन जाता है तो यह उपलब्धि और भी बड़ी हो जाती है।

एक रोचक बात यह है कि नरेंद्र कोहली के कथा साहित्य और व्यंग्य साहित्य में कई जगह अच्छा तालमेल दिख जाता है, जिससे उनके कथा का विस्तार होता है और उनके व्यंग्य में निखार आता है। इन दोनों विधाओं ने एक दूसरे को अपनाया भी है और एक दूसरे का विकास भी किया है, लेकिन उनके उपन्यासकार और व्यंग्यकार में ऐसा कोई सीधा तालमेल नहीं दिखता है। उसकी एक बड़ी और स्पष्ट वजह तो यह है कि उन्होंने उपन्यास इतने गंभीर विषयों पर लिखे कि उनमें व्यंग्य की संभावना नहीं के बराबर ही मिलती है। यह नरेंद्रजी की कुशलता है कि उन्होंने उपन्यासों की गंभीरता को व्यंग्य के तेवर से बचाकर रखा है। उनके उपन्यासों में व्यंग्य नहीं है, यह अनुभव होता है, लेकिन कोई चाहे तो उनकी उपन्यास-शृंखलाओं में व्यंग्य की भी तलाश कर सकता है, जो अपने आप में रोचक भी होगा और शोधपरक भी। उनमें प्रत्यक्ष व्यंग्य न भी हो परोक्ष व्यंग्य को होना ही है, क्योंकि व्यंग्य उनके रचनाकार व्यक्तित्व का उतना ही प्रबल प्रखर हिस्सा है, जितना कथाकार और उपन्यासकार है। सामान्य रूप से उनके उपन्यासों को व्यंग्यहीन माना जा सकता है। विशेषकर उन उपन्यासों को, जिन्होंने उन्हें लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचाया। उनके अन्य उपन्यासों में, कहानियों की भाँति व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति को नकारा नहीं जा सकता है। जिस तरह सामान्य रूप से उनके लोकप्रिय उपन्यास- शृंखलाएँ, व्यंग्यहीन हैं, उसी तरह उनके व्यंग्य भी उपन्यासहीन हैं, पर वे कथाहीन नहीं हैं। उपन्यासहीन हैं, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती है। उनकी कुछ बड़ी और कथात्मक व्यंग्य रचनाओं में उपन्यास की शैली अवश्य मिलती है, पर कोई व्यंग्य उपन्यास उन्होंने नहीं लिखा है, जो आद्योपांत व्यंग्य ही हो। यह कोई विरोधाभास या अंतर्विरोध है, ऐसी बात नहीं है। कदाचित उन्होंने व्यंग्य शैली से अपने उपन्यासों को अलग रखा है और दूसरी ओर व्यंग्य को कभी उपन्यासमूलक विस्तार देने की बात नहीं सोची। इसके पीछे लेखक के अपने कारण या तर्क हो सकते हैं, लेकिन वे यदि व्यंग्य उपन्यास लिखते तो वे भी कम लोकप्रिय नहीं होते, यह तो माना ही जा सकता है। उन्होंने अपने व्यंग्य लेखन को जिस तरह कथात्मक आधार दिया, उस तरह उसे उपन्यास का विस्तार क्यों नहीं दिया, यह एक प्रश्न शेष रह जाता है।

मैं व्यक्तिगत रूप से हिंदी के चार व्यंग्यकारों को हिंदी व्यंग्य के चार स्तंभ मानता हूँ- हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी और नरेंद्र कोहली। ये हिंदी व्यंग्य के पुरोधा भी हैं और समकालीन हिंदी व्यंग्य के प्रवर्तक भी। इन्होंने हिंदी व्यंग्य के मशाल को जिस तरह थामे रखा, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसकी ही रोशनी में व्यंग्य ने अब तक अपनी विकास यात्रा तक की है। मुझे ये चारों व्यंग्यकार एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। इन चारों के व्यंग्य साहित्य को मिलाकर देखा जाए तो वह विश्व के किसी भी व्यंग्य साहित्य से कमतर नहीं जान पड़ता है। हरिशंकर परसाई में मारक क्षमता अधिक थी। एक कडुवाहट की क्षमता। धार उनमें सबसे अधिक जान पड़ती है। श्रीलाल शुक्ल में कलाकारिता अधिक है। वे अकेले हिंदी व्यंग्य के क्राफ्ट्समैन लगते हैं। वे व्यंग्य न केवल लिखते हैं, बल्कि उसे बुनते हैं। उनमें एक अलग तरह का आकर्षण और सौंदर्य मिलता है। व्यंग्य उनके व्यक्तित्व का एक हिस्सा नहीं जाना पड़ता है, पर वे उसमें जान डालने में माहिर हैं। इसके ठीक विपरीत शरदजोशी आपादमस्तक व्यंग्यकार लगते हैं। जैसे व्यंग्य उनके लेखन का ही एक आधार न होकर उनके जीने की एक शैली हो। शायद यही कारण है कि वे सर्वाधिक लोकप्रिय भी माने जाते रहे। व्यंग्य में जो खिलंदड़ापन होता है, उसका विकास उन्होंने अद्‌भुत रूप में किया है। 'प्रतिदिन' कालम में उनका व्यंग्य लेखन लाजवाब रहा है। नरेंद्र कोहली शेष तीनों से भिन्न हैं। उनमें हरिशंकर परसाई से मारकता कम हो सकती है, श्रीलाल शुक्ल से बुनावट कम और शरदजोशी से खिलंदड़ापन भी कम, लेकिन उनके व्यंग्य अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत, परिमार्जित, प्रबुद्ध और अभिजात्यपूर्ण लगते हैं। व्यंग्य के आधारभूत रूप स्वरूप की रक्षा उनमें अधिक मिलती है। यह अत्यंत समसामयिक भले ही कम है, लेकिन मानवीय अधिक है, क्योंकि उनमें ऐसे विषयों को प्रस्तुत किया गया है, जो मानव के साथ शाश्वत सत्य के रूप में जुड़े होते हैं। भले ही वे रोजमर्रा की घटनाओं पर आधारित क्यों न हों। एक तो व्यंग्य उनके व्यक्तित्व से जुड़े होने के कारण और दूसरे उसमें एक मानवीय आधार के कारण भी, उनमें व्यंग्य क्लासिक तत्वों से भरे-पूरे जान पड़ते हैं। व्यंग्य में भी क्लासिक चेतना को बनाए रखना, नरेंद्र कोहली की अपनी मौलिकता है। यह नहीं है कि अन्य व्यंग्यकारों ने श्रेष्ठ व्यंग्य नहीं लिखे, लेकिन जिनके व्यंग्य लेखन को अपनी समग्रता में, व्यंग्य की गरिमा और मर्यादा के आधार पर एक क्लासिक स्पर्श के साथ देखा जा सकता है वैसे व्यंग्य लेखन का दृष्टांत नरेंद्र कोहली में अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। व्यंग्य के नारों, झंडों, वादों और आंदोलनों की परिवर्तनशीलता के बीच भी जो व्यंग्य टिके रहने में समर्थ और सार्थक हैं, वैसे व्यंग्य नरेंद्र कोहली के व्यंग्यकार की छवि को कभी धूमिल नहीं होने देते हैं। यही कारण है कि एक उपन्यासकार के रूप में हिंदी संसार में अति लोकप्रिय होने के बाद भी, व्यंग्यकार कोहली की ख्याति कम नहीं हुई। उनके व्यंग्य संग्रह जगाने का अपराध, एक और लाल तिकोन, आधुनिक लड़की की पीड़ा, त्रासदियाँ आदि में उनके व्यंग्य की क्लासिकता का अनुभव होता है।

जब से व्यंग्य हास्य बनता गया है और व्यंग्य के स्थान पर हास्य की प्रधानता होती गई, तब से अच्छी, परिपक्व, सुरुचिपूर्ण, संस्कारजनित व्यंग्य सहजता से मिलते नहीं हैं, बल्कि उन्हें खोजना पड़ता है। अखबारों ने व्यंग्य को हास्य बनाने में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जो व्यंग्य पहले गंभीरलेखन के अंग थे, वे कालांतर में कालम बनते गए। व्यंग्य को हास्य में बदलते तो शायद फिर भी झेला जा सकता है, पर जब हास्य के नाम पर फूहड़ता और अश्लीलता परोसी जाने लगी, तो ये रचनाएँ भी कुल मिलाकर टी.वी. के लाफ्टर शो की पंक्ति में आ गईं। कालम लिखने के बावजूद व्यंग्य की स्तरीयता को जिस तरह पहले के व्यंग्यकारों ने बचाकर रखा, बाद के रचनाकार नहीं बचा पाए। नतीजा यह हुआ कि व्यंग्य बाजारु बनता गया, बिकता गया। आज व्यंग्य सबसे चालू और चलताऊ विधा है। हर कोई लिख रहा है। धड़ल्ले से लिख-छप रहा है। इन्हें व्यंग्य कहते भी शर्म आती है। हिंदी में उपन्यासों के बाद सबसे अधिक प्रकाशित होने और बिकने वाली किताबें व्यंग्य की मानी जाती हैं। यदि देखा जाए तो आज व्यंग्य, हास्य के रूप में हिंदी में सबसे लोकप्रिय हैं, ऐसी स्थिति में जब हम अपने महत्वपूर्ण व्यंग्यकारों के साहित्य को देखते हैं, तो वे हमें और भी मूल्यवान लगते हैं। नरेंद्र कोहली ने व्यंग्य कालम नहीं लिखकर अपने व्यंग्य संसार को व्यंग्य ही रहने दिया है, उन्हें हास्य बनने से बचाया है, यह एक ऋण है, उनका हिंदी व्यंग्य साहित्य के प्रति। उन्होंने सैकड़ों की संख्या में व्यंग्य रचनाएँ लिखी हैं, लेकिन शायद एक भी ऐसी नहीं है, जिसमें व्यंग्य पर हास्य को थोपा गया हो। उसे चटपटा और चालू किस्म का बनाया गया हो। दरअसल उन्होंने व्यंग्य लिखने को गंभीरता से और प्रतिबद्धता के साथ स्वीकार किया, इसलिए आज भी व्यंग्यकारों की भीड़ में वे अलग दिखते हैं और उनकी व्यंग्य रचनाएँ अलग अनुभव प्रदान करती हैं। व्यंग्य का मूल स्वरूप और संरचना उनके व्यंग्य साहित्य में सबसे अधिक सुरक्षित और संरक्षित जान पड़ती है। उनकी परेशानियाँ, आश्रितों का विद्रोह, पाँच एबसर्ड उपन्यास और शंबूक की हत्या इसके प्रमाण हैं। 'शंबूक की हत्या' हिंदी के व्यंग्य प्रधान नाटकों में एक विशेष स्थान रखता है। यह बात दूसरी है कि इस परंपरा में उन्होंने शायद अन्य कोई नाटक नहीं लिखा।

नरेंद्र आज गंभीर उपन्यास-शृंखला लेखन में आकंठ डूबे हुए हैं, पर इच्छा होती है कि जिस तरह उन्होंने रामकथा, महाभारत और विवेकानंद पर उपन्यास शृंखलाएँ लिखीं उसी तरह कभी भविष्य में वे एक व्यंग्य उपन्यास शृंखला भी लिखें ताकि वह भी हिंदी के पाठकों को एक अनोखा अनुभव, आयाम और आस्वाद प्रदान कर सके। हिंदी व्यंग्य के क्षेत्र में उनका अवदान इतना है कि शायद हिंदी में केवल व्यंग्य लेखन से जुड़े हुए लेखकों पर भी वह भारी पड़ सकता है, जबकि वे व्यंग्येतर गद्य विधाओं में निरंतर लिखते रहे। उनका साहित्य चाहे जिस किसी गद्य-विधा में हो, वह विपुल है, वैविध्यपूर्ण है और विशिष्ट है। यह उनके व्यंग्य साहित्य के संबंध में भी उतना ही चरितार्थ है।

❑❑❑

डॉ० नरेन्द्र कोहली : मेरी नज़र से...

● सुधा ओम ढींगरा

पतली, दुबली एक किशोरी और स्कूल की वाद-विवाद प्रतियोगिता। विषय 'राम की महानता' किशोरी विरोध में बोली और उसने गर्भवती सीता को जंगलों में छोड़ने के प्रसंग को इतनी भावुकता से उठाया कि श्रोताओं और जजों की आँखें नम हो गईं और प्रथम स्थान प्राप्त किया। फिर कभी द्रौपदी का चीर हरण, उसे दाव पर लगाना या सीता का धरती में समाना, सब विषयों पर मधुर भाषा, दृढ़ता और संवेदना से प्रतियोगिताओं में बोलती गई और प्रथम स्थान प्राप्त करती गई। किशोरी युवावस्था में कदम रखने लगी, उसकी सोच के हवन में पारिवारिक पृष्ठभूमि सामग्री डाल रही थी। प्रगतिवादी और आर्य समाजी विचारधारा उसे ओजस्वी और वेगवती बना रही थी। युवती को लिखने का शौक था, अखबारों में उसने कुछ ऐसे लेख लिखे कि माँ भीतर से दहल गई। घर का माहौल बड़ी तेजी से बदला, पुरा ग्रंथों की आलोचनाएँ बंद हो गईं... और यह परिवर्तन बुद्धिमत्ता और सुघड़ता से लाया गया। घर के बच्चे परेशान नहीं हुए। उन्हें कुछ पता नहीं चला। घर में पुरातन विषयों पर बहस होती रही पर दृष्टिकोण बताने में काफी अंतर आ गया था। उन्हें तो बस यही लगा कि इन ग्रंथों का दूसरा पहलू बताया जा रहा है...

किशोरी युवावस्था में कदम रखने लगी, उसकी सोच के हवन में पारिवारिक पृष्ठभूमि सामग्री डाल रही थी। प्रगतिवादी और आर्य समाजी विचारधारा उसे ओजस्वी और वेगवती बना रही थी। युवती को लिखने का शौक था, अखबारों में उसने कुछ ऐसे लेख लिखे कि माँ भीतर से दहल गई। घर का माहौल बड़ी तेजी से बदला, पुरा ग्रंथों की आलोचनाएँ बंद हो गईं... और यह परिवर्तन बुद्धिमत्ता और सुघड़ता से लाया गया।

किशोरी की साहित्यिक रुचि को ध्यान में रखते हुए माँ ने उसे तरह-तरह की पुस्तकें पढ़ने को दीं। किशोरी की जिज्ञासा शांत नहीं होती थी। माँ-पिता और भाई तीनों डाक्टर थे। माँ ने मनोवैज्ञानिकता से सारी स्थिति सम्भाली। माँ को भी पढ़ने का बहुत शौक था और वह चुन-चुन कर ऐसी पुस्तकें बेटी को देती जो पुराकथाओं पर स्वस्थ और संतुलित दृष्टिकोण लिए थीं। उन्हीं दिनों उसे डॉ० नरेंद्र कोहली की

'दीक्षा' पढ़ने को मिली। बाद में 'अवसर', 'संघर्ष की ओर'। इन पुस्तकों को पढ़ कर रामकथा के प्रति उसकी सकारात्मक सोच बनी। उसने डॉ० कोहली के व्यंग्य और कहानियाँ भी पढ़ीं। पंजाब केसरी, हिन्द समाचार, जगवानी दैनिक पत्र की वह पत्रकार बनी। लेखनी वेगवान तो थी ही पर अब तार्किक भी हो गई थी। स्वभाव बेहद शांत हो गया था। किशोरी और युवा बेटी में धरती और आकाश का अन्तर पा कर माँ अति प्रसन्न थी।

शादी के बाद वह लड़की अमेरिका आ गई। 'महासमर' के सभी खण्ड उसने अमेरिका में पढ़े। उसकी भाषा की सौष्ठवता और सोच की परिपक्वता में इन पुस्तकों का बहुत योगदान है। किशोरी सुधा शर्मा अब सुधा ओम ढींगरा हो गई थी। यानी मैं.... और उत्तरी अमेरिका की पत्रिका 'हिन्दी चेतना' की सम्पादिका बन गई थी। 'तोड़ो कारा तोड़ो' के प्रथम खण्ड को पढ़ने के उपरांत मैंने 'अभ्युदय' को फिर से पढ़ा। किशोरावस्था में पढ़े उपन्यास को पत्नी, माँ और औरत बन कर पढ़ने में जो अनुभूति हुई और उपन्यास के कई पहलुओं पर पहले से अलग-सा विचार- विमर्श और संवाद महसूस हुआ। मैं उनकी भाषा और नए दृष्टिकोण से इतनी प्रभावित थी कि डॉ० कोहली से मिलना चाहती थी, पर उनके स्वभाव की शुष्कता के बारे में सुन रखा था। अतः भारत जा कर भी बिना मिले लौट आती थी। 2008 ई० में मैंने दिल्ली के प्रोफेसर प्रमोद शास्त्रीजी को अपने मन की बात बताई कि मैं 'हिन्दी चेतना' का विशेषांक डॉ० कोहलीजी पर निकालना चाहती हूँ, पर उनसे बात करने से डरती हूँ। उन्होंने उनके स्वभाव के रुचिकर और बेहतरीन पहलुओं से परिचित करवाया और बताया कि कई बार बड़े लेखकों के बारे में मिथ्या धारणाएँ बना दी जाती हैं। उनका फोन नम्बर दे कर प्रमोदजी ने कहा कि बात करके स्वयं ही देख लूँ, कैसे हैं वे? उनसे बात करने से पहले मैंने 'हिन्दी चेतना' के मुख्य सम्पादक श्री श्याम त्रिपाठीजी से विशेषांक के लिए अनुमति ले ली थी। हिन्दी चेतना पत्रिका का अक्टूबर 2008 अंक डॉ० नरेन्द्र कोहली विशेषांक था। इस अंक को तैयार करते समय एक सरल, सादा और स्नेही व्यक्तित्व से मेरा परिचय हुआ। डॉ० कोहली विशेषांक से विदेशों में बसे बहुत से भारतीय उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हुए। इस अंक ने पाठकों से बहुत प्रशंसा पाई। विशेषांक में हमने कोहलीजी की पुस्तकों की सूची भी डाली थी और उस साइट का लिंक भी दिया था, जहाँ से विदेशों में बैठे भारतीय इनकी पुस्तकें मंगवा सकते हैं। बहुत से प्रवासी साहित्यकारों को इनके बारे में विस्तृत जानकारी मिली। विशेषांक के बाद 'तोड़ो कारा तोड़ो' के सभी खण्ड पढ़ डाले। भीतर अलौकिक सुख का अनुभव हुआ, संतोष और शांति अंग-अंग बसने लगे हैं। यह सब कहानी मैंने इसलिए बताई है कि अच्छा साहित्य इन्सान के जीवन पर कैसे प्रभाव डालता है और जीवन को बदल कर रख देता है। काश! माँ आज जिन्दा होती तो बहुत खुश होती।

❑❑❑

नरेन्द्र कोहली के व्यंग्य

● रवीन्द्र पाठक

नरेन्द्र कोहली हिंदी साहित्य में व्यंग्य-लेखन के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर माने जाते हैं। हालाँकि इनकी प्रसिद्धि एक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक हुई थी। विवेकानंद के जीवन पर लिखा हुआ इनका 'तोड़ो कारा तोड़ो' उपन्यास हिंदी साहित्य की अन्यतम उपलब्धि है। ''यह किसी भी भाषा में विवेकानंद के विषय में लिखी पुस्तकों में श्रेष्ठतम मानी जाती है।''[1] इन्होंने महाभारत और रामायण की कथा को लेकर क्रमशः 'महासमर' एवं 'अभ्युदय' नामक वृहदकाय उपन्यासों की रचना की। इन उपन्यासों की रचना के दौरान वे छिटपुट व्यंग्य रचनाएँ भी लिखते गए। परंतु उनकी आरंभिक व्यंग्य रचनाओं में व्यंग्य की वह तीक्ष्णता नहीं दिखाई देती जो परवर्ती व्यंग्य रचनाओं में पाई जाती है। ये आरंभिक व्यंग्य रचनाएँ सामाजिक विडम्बनाओं पर सहज हास-परिहास का सामान्य प्रयासमात्र थीं। इसीलिए कोहलीजी स्वयं ऐसी रचनाओं को व्यंग्य रचनाएँ मानने से इनकार करते हैं। उन्होंने अपनी आरंभिक व्यंग्य रचनाओं पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''ठीक-ठीक याद करना कठिन है कि मैंने व्यंग्य लिखना कब से आरंभ किया। अपनी आरंभिक रचनाओं को टटोलता हूँ तो उनमें कुछ एक निबंध मिल जाते हैं जिनमें अपने आस-पास के कुछ लोगों का उपहास करने का प्रयत्न किया गया था। 'मैं बच्चों से घृणा करता हूँ' ऐसा ही एक निबंध था जो मैंने सन् 1957-58 में लिखा था। उसमें उन लोगों का मजाक उड़ाया था, जो अपने बच्चों की अभद्र आदतों को भी घर आए मेहमानों के सामने गौरव मंडित करते हैं। किंतु ऐसी रचनाओं को ठीक-ठीक व्यंग्य नहीं माना जा सकता, यद्यपि उनमें परिहास, विनोद और कहीं-कहीं

ये आरंभिक व्यंग्य रचनाएँ सामाजिक विडम्बनाओं पर सहज हास-परिहास का सामान्य प्रयासमात्र थीं। इसीलिए कोहलीजी स्वयं ऐसी रचनाओं को व्यंग्य रचनाएँ मानने से इनकार करते हैं। उन्होंने अपनी आरंभिक व्यंग्य रचनाओं पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''ठीक-ठीक याद करना कठिन है कि मैंने व्यंग्य लिखना कब से आरंभ किया।

तिरस्कार भी है। उसी समय लिखी गयी कुछ कहानियों में परिवेश की विसंगतियों का चित्रण भी मिल जाता है। किंतु वे ऐसी कहानियाँ हैं, जहाँ गरिमा का आवरण हटाकर किसी पात्र के व्यवहार की विसंगति को चित्रित किया गया।''[2]

कोहलीजी ने कविता के क्षेत्र में भी अपनी लेखनी चलाई और उन्होंने शताधिक कविताओं की रचना की, परंतु इनकी कविताओं को संपादकों ने वैसी तरजीह नहीं दी जैसी गद्य रचनाओं को। कोहलीजी मूलतः कवि नहीं थे। शायद उनकी कविताओं में वह धार नहीं थी जो उनकी गद्य रचनाओं में पाई जाती है। यही कारण था कि उनकी कविता के प्रति संपादकों ने उदासीनता दिखाई। अपनी कविता के प्रति संपादकों की उपेक्षा पर चुटकी लेते हुए उन्होंने लिखा है–''यह संपादकों का मेरे कवि पर उपकार ही था कि सैकड़ों की संख्या तक पहुँचती मेरी कविताओं में से, कोई एक भी कविता किसी संपादक ने कभी प्रकाशित नहीं की। आज मैं उनके प्रति नतमस्तक हूँ कि उन्होंने ठीक समय अपना निर्णय दे दिया। अन्यथा उनकी भूल के कारण आज मैं कवि बनकर फजीहत झेल रहा होता।''[3]

कोहलीजी की पहली व्यंग्य कविता थी 'इतना मत रोना मेरी राधे'। इसमें उन्होंने श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने एवं उनके वियोग में गोपियों के रोने का प्रसंग लेकर ठीकेदारों, मंत्रियों एवं उनके बीच व्याप्त भ्रष्टाचार पर करारा व्यंग्य किया है–

''इतना मत रोना मेरी राधे!
कि अश्रु-धार को बाँधने को
सरकार हमारी डैम बना दे।
कहीं अफसर कोई
रिश्तेदारों को अपने ठेका न दिला दे।
ठेकेदार ऐसा होगा कहाँ,
जो सीमेंट के बदले बालू न मिला दे।
इस भारत में
बाँध नहीं कोई बना है ऐसा
जिसमें न कोई छिद्र हुआ हो।
ऐसा कोई माँ का लाल नहीं
जिसने देश के धन से
न खिलवाड़ किया हो।
सच जानो तुम,
टंगा नहीं फाँसी पर कोई,
जिसने ऐसा व्यापार किया हो।''[4]

कोहलीजी के अनुसार यही एक कविता थी जो प्रकाशित हुई। इसे वे अपनी मित्र-मंडली में सुनाते भी रहे थे। इस व्यंग्य-कविता को उन्होंने गद्य-लेख के रूप में भी लिखा। यह कविता कोहलीजी ने ''भाखड़ा बाँध में आ जाने वाली दरार का समाचार पढ़कर, आवेश से पीड़ित होकर लिखी थी।'' इस संबंध में उनकी स्वयं की टिप्पणी द्रष्टव्य है-''आरंभिक व्यंग्य-रचनाओं के रूप में मुझे अपनी कुछ लंबी कविताएँ याद आती हैं।.....ऐसी पहली कविता 'इतना मत रोना मेरी राधे!' थी, जिसमें कृष्ण के विदेश गमन पर गोपियों के असंतुलित रुदन से लेकर, देश की सेवा के नाम पर कच्चे बाँध बंधाने-बंधवाने वाले ठेकेदारों, इंजीनियरों तथा मंत्रियों इत्यादि के प्रति अपना आवेश वक्रतापूर्वक प्रकट किया गया था।.....अपने अनेक साथियों तथा गुरुओं के बीच एकाधिक बार उस कविता को पढ़कर सुनाया था और प्रशंसा पायी थी। वह कविता मैं तब तक लोगों को सुनाता रहा, जब तक मेरे विरोधी (गुरु) ने मुझे नीचा दिखाने के लिए, एक गोष्ठी में यह सिद्ध नहीं कर दिया कि वह रचना व्यंग्य तो है, किंतु कविता नहीं है। बात मेरी समझ में आ गयी। मैंने तब भी उनके प्रति कृतज्ञता का अनुभव किया था और आज भी करता हूँ कि उन्होंने मुझे अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल विधा की ओर बढ़ने से बचा लिया। मैंने न केवल कवि बनने का हठ छोड़ दिया, वरन उस कविता को भी गद्य में लिख डाला। सुखद आश्चर्य यह था कि उसे पहले ही संपादक ने अपनी पत्रिका में प्रकाष्ठित कर पारिश्रमिक के बीस रुपए भिजवा दिए। मैंने तत्काल अपनी अन्य व्यंग्यात्मक कविताओं में से 'कवित्व' घटा डाला और कविताई का श्राद्ध कर दिया।''[5]

कोहलीजी का मानना है कि व्यंग्य रचना व्यक्तिगत पीड़ा से उभरती है। जब समाज में हो रही विसंगतियों से व्यक्ति स्वयं दो-चार होता है, उसे बदल सकने में स्वयं को व्यक्ति असमर्थ पाता है तब उसमें उस व्यवस्था के प्रति आक्रोश पैदा होता है जो व्यंग्य रचनाओं के रूप में प्रस्फुटित होता है और व्यंग्यकार की वही रचना व्यंग्य की दृष्टि से ज्यादा मारक होती है जिसमें उसके स्वयं की अनुभूति होती है। उन्हीं के शब्दों में, ''कुछ अनुचित, अन्यायपूर्ण अथवा गलत होते देखकर जो आवेश जागता है, वह यदि कर्म में परिणत नहीं हो सकता और अपनी असहायता में वक्र होकर जब अपनी तथा दूसरों की पीड़ा पर हँसने लगता है तो वह विकट व्यंग्य होता है। वह पाठक के मन को चुभलाता-सहलाता नहीं, कोड़े लगाता है। अतः सार्थक और सशक्त व्यंग्य कहलाता है।''[6] यही कारण है कि कोहलीजी के जीवन में जब सबकुछ सहज रूप से चल रहा था, जबतक उनके जीवन की गति वक्र नहीं हुई थी तबतक अपने आप-पास की विडम्बनाओं और विसंगतियों पर उसका ध्यान नहीं गया था और उनके प्रति उन्हें आक्रोश भी नहीं था। लेकिन जैसे-जैसे उनका व्यक्तिगत जीवन विसंगतियों से भरने लगा, उनके जीवन की गति जैसे-जैसे वक्र होती गई, अपने परिवेश की अराजकता और उसकी विडम्बनाओं पर उनका

आक्रोश भी बढ़ता गया तथा उसको न बदल पाने की अकुलाहट व्यंग्य रचनाओं के माध्यम से प्रकट होने लगी। अब उनका अपना व्यक्तिगत आक्रोश व्यक्तिगत न रहकर सार्वजनिक हो गया तथा वे अपने लिए ही नहीं, उन सबके लिए आक्रोश प्रकट करने लगे जो सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विसंगतियों के मारे थे। अपने लेखनकर्म में व्यंग्य-लेखन एवं उसके कारणों पर विचार करते हुए कोहलीजी लिखते हैं, ''बीच में व्यंग्य-लेखन की दृष्टि से एक लंबा अंतराल आ गया। आज सोचता हूँ तो पाता हूँ कि यह मेरे जीवन का वह समय था, जिसमें व्यक्ति अपनी नयी-नयी उपलब्धियों और छोटे-छोटे सुखों की घटनाओं में भूला रहता है। वह उन अनुभवों की नवीनताओं में खोया रहता है। उस बहाव में वह अपने जीवन तथा परिवेश की विसंगतियों की ओर ध्यान नहीं दे पाता। कम से कम मेरे साथ यही हुआ। पढ़ाई समाप्त हुई। डिग्री पायी और नौकरी आरंभ की। भारतीय किस्म का, मर्यादित-सा प्रेम किया और विवाह कर लिया। संतान का जन्म हुआ और चार महीनों तक चक्करघिन्नी के समान नचाकर वह चल बसी। ये सारी घटनाएँ ऐसी थीं, जो अपनी नवीनता और प्रवाह से मुझे स्तंभित कर गयीं, जिनके कारण और बहुत कुछ लिखा गया, किंतु व्यंग्य नहीं लिखा गया। मेरे व्यक्तित्व में से कभी-कभी, किन्हीं कारणों से, व्यंग्य का तत्व कुछ ऐसा छन जाता है कि उसकी ओर ध्यान खींचे जाने पर, मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। एक पाठक ने मुझसे पूछा था कि 'आतंक' लिखते हुए मैं अपने व्यंग्यकार को कहाँ सुला आया था? और तब मुझे स्वयं भी आश्चर्य हुआ कि सचमुच ही उस उपन्यास में व्यंग्यकार की परछाईं की धूल भी नहीं है। किंतु घटनाओं के इस मोड़ तक आते-आते जीवन का रोमांस स्थिर हो चुका था और यथार्थ अपने वास्तविक रूप में सामने खड़ा था। पहली संतान की मृत्यु के पश्चात् दूसरी संतान की अस्वस्थता का कष्ट तथा उसकी मृत्यु से जुड़ी हुई जीवन की अनेक विभीषिकाओं का साक्षात्कार हुआ। उसने मन को जो पीड़ा दी, उसकी असह्यता ने मेरे व्यक्तित्व की वक्रता को पुनः मुखरित कर दिया और स्वयं को हलका करने के लिए व्यक्तिगत अनुभवों पर मैंने कटाक्ष किए। अपनी पीड़ा का ही उपहास किया। अपने घावों को छील-छीलकर स्वयं को रुलाया। इसी अवधि में 'अस्पताल' तथा अन्य एब्सर्ड उपन्यास तथा अनेक अन्य व्यंग्य-रचनाएँ लिखी गयीं।''[7]

इसके बाद लेखक के व्यक्तित्व की जो वक्रता एक बार मुखरित हुई तो फिर मुखर ही रही। वह एक के बाद एक व्यंग्य रचनाओं को हिंदी साहित्य के समक्ष परोसता रहा। कोहलीजी के कई व्यंग्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। एक और लाल तिकोण, मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, आधुनिक लड़की की पीड़ा, त्रासदियाँ, परेशानियाँ, मेरी इक्यावन व्यंग्य रचनाएँ, गणतंत्र का गणित आदि उनकी प्रमुख व्यंग्य रचनाएँ हैं। इन्होंने न केवल स्वतंत्र व्यंग्य लेख लिखे, बल्कि कई व्यंग्य उपन्यास एवं नाटक भी लिखे। 'पाँच एब्सर्ड

उपन्यास' इनकी औपन्यासिक व्यंग्य रचनाएँ हैं तो 'शंबूक की हत्या' व्यंग्य नाटक। इनके अलावे इन्होंने कहानियों, फंतासियों तथा स्तंभ-लेखों के रूप में भी व्यंग्य रचनाएँ की हैं। इनकी संपूर्ण व्यंग्य रचनाओं का प्रकाशन 'समग्र व्यंग्य' के नाम से पाँच भागों में किया जा चुका है। नरेंद्र कोहली की व्यंग्य रचनाओं का फलक इतना व्यापक है कि सबका मूल्यांकन एक लेख में कर पाना संभव नहीं है। अतः यहाँ मैंने उनके कुछ चुनींदा व्यंग्य लेखों पर ही विचार व्यक्त करने का प्रयास किया है।

नरेंद्र कोहली ने करीब-करीब समाज की हर विडम्बनाओं और समस्याओं को अपनी व्यंग्य रचनाओं का विषय बनाया है। यही कारण है कि उनकी व्यंग्य रचनाओं में विषय की विविधता नजर आती है। उनकी रचनाएँ अन्य व्यंग्यकारों की भाँति एकरस (मोनोटोनस) नहीं हो पाई हैं। कहीं-कहीं तो उनका व्यंग्य अत्यंत तीक्ष्णता से हमें बेधता जान पड़ता है। 'खुदाई' उनका ऐसा ही एक व्यंग्य लेख है जिसमें उन्होंने तथाकथित सेक्यूलर लोगों पर व्यंग्य किया है जो सेक्यूलर होने के नाम पर छद्म-धर्मनिरपेक्षता को ओढ़े फिरते हैं। भारत में जब कभी कोई भारतीय संस्कृति और सभ्यता की बात करता है तो उसे कम्यूनल (सांप्रदायिक) की संज्ञा दी जाती है। लेकिन क्या अपनी सभ्यता संस्कृति की बात करना सांप्रदायिक होना है। रामायण और महाभारत की घटनाओं का भारतभूमि पर प्रमाण खोजना अभारतीयता या धार्मिक उन्माद है? पश्चिमी पुरातत्त्ववेत्ताओं ने तो बाइबिल में वर्णित स्थलों का इंच-इंच खोद डाला। लेकिन आज भारत में हिंदू और भारतीय संस्कृति की बात करना शायद सबसे जघन्य कार्य-सा हो गया है। इस लेख से कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

वह मुझसे पूछ रहा था, 'क्या रामकथा में वर्णित स्थानों की किसी ने खुदाई की है?'

मैं सोच रहा था कि उसे कैसे बताऊँ कि इस देश में ऐसी बात करना शोभनीय नहीं माना जाता। उससे व्यक्ति सांप्रदायिक हो जाता है। और कौन चाहेगा कि वह सांप्रदायिक हो जाए।

'पश्चिमी पुरातत्त्ववेत्ताओं ने तो बाइबिल में वर्णित स्थलों का इंच-इंच खोद डाला है। वे पूरी तरह बाइबिल को ऐतिहासिक प्रमाणित करने पर तुले हुए हैं।' उसने कहा।

'वे व्यर्थ परिश्रम कर रहे हैं।' मैंने कहा, हमारे देश के महान इतिहासकार तो बिना खुदाई के ही सत्य जान गए हैं।'

'योग विद्या से? वे योगी हैं क्या?'

'नहीं, योगी तो नहीं हैं।' मैंने कहा, 'पर उन्होंने बिना खुदाई और छानबीन के ही घोषणा कर दी है कि रामकथा काल्पनिक है।'

'यहाँ?' मैंने कहा, 'यहाँ सेकुलर धर्म जन्मा है, जो चौदह-पंद्रह वर्ष से पीछे नहीं जाना चाहता, इसलिए सिद्ध करना चाहता है कि पंद्रह सौ वर्ष पूर्व इस देश में या तो कुछ था नहीं और यदि था तो निंदनीय था।'

'पर क्या वे इस देश में नहीं जन्में?'

'जन्में तो इसी देश में हैं किंतु उनका मस्तिष्क सेकुलरित है।''[8]

इसी प्रकार कोहलीजी ने 'अमरीकन जांघिया' नामक व्यंग्य लेख में मध्यवर्ग की उस मानसिकता पर व्यंग्य किया है जो आधुनिकता और संभ्रांतता के नाम पर उन सब चीजों के प्रति नाक-भौं सिकोड़ता है जो भारतीय है तथा विदेशी चीजों के नाम पर नंगा तक होने में उसे कोई ऐतराज नहीं। इस लेख में जब माथुर साहब छत पर नंग-धडंग खड़े होकर लेखक के सामने अपनी अमरीकन जांघिये की बड़ाई के कसीदे पढ़ रहे थे तब लेखक ने उनसे चुटकी लेते हुए कहा कि भाभीजी के लिए कोई ड्रेस नहीं खरीदी? उसपर माथुर साहब सीधे अमरीका से पत्र लिखकर कपड़े मंगवाने की बात कहते हैं। देखिए-

''मैंने सलाह दी, 'सीधे अमरीकन प्रेजिडेंट को ही लिखिए। वे तो कबसे इस कोशिश में हैं कि सारे देश उनके जांघिये पहनने के लिए नंगे हो जाएँ।'

'आपकी बड़ी ऑर्थोडॉक्स थिंकिंग है। इसे आप नंगा होना कहते हैं?' वे मेरी नादानी पर हँस दिए।

'नहीं, नंगा तो मैं हूँ। आँखें उठाकर पूरी तरह आपकी ओर देख भी नहीं सकता।'

उन्होंने मेरी बात का एकदम बुरा नहीं माना। परोपकार की भावना से प्रेरित होकर तुरंत बोले, 'आपको पसंद हो तो आपके लिए भी कोई जुगाड़ लगाऊँ। कुछ जांघिए रफू होने के लिए दर्जी के पास गए हुए थे। तब नहीं बिके थे, अब बिकेंगे।'

'भगवान ऐसी मुसीबत की घड़ी न लाए। इतनी गर्मी का लगना राष्ट्रीय हित में नहीं है।'

'आप तो बात को फिर पोलिटिकल लेवल पर ले गए।' वे बोले, 'मैं तो दोस्ताना बात कह रहा था।'

'आपकी दोस्ती के पॉलिटिक्स को भी लोग समझने लगे हैं।'

वे पहली बार पूरी तरह उदास हो गए। उनके चेहरे पर निक्सन की निराशा और क्षोभ था। यह काला देश उनकी सहायता के प्रस्ताव को ठुकरा रहा था।''[9]

'हुए मर के हम जो रुसवा' भी कोहलीजी की श्रेष्ठ व्यंग्य-रचनाओं में से एक है। इसमें लेखक ने मिर्जा गालिब के बहाने आँख के अंधे पर गाँठ के पूरे लोगों द्वारा शायरी और शायरों की क्या फजीहत होती है, इसे दर्शाने का बखूबी प्रयास किया गया है। साथ

ही साथ यह स्पष्ट करना चाहा है कि आलोचकों और अध्यापकों द्वारा किसी रचना का वास्तविक मूल्यांकन नहीं किया जाता है। वे रचना की मौलिक सुंदरता तथा उसकी व्यंजकता को मार देते हैं। ''मुदर्रिस तो शायरी का कसाई है। खूबसूरत नज्म को पहले हलाल करेगा और फिर उसकी बोटी-बोटी कर उसे अपने ग्राहकों को दिखा कर उन्हें खुश करेगा, यह लफ्ज अच्छा है। यह तसव्वुर खूबसूरत है, यह बात गहरी है। नज्म गई भाड़ में।''[10]

इस लेख का अंत भी बड़ी नाटकीय ढंग से होता है। टामसन साहब अपने कॉलेज के लिए मिर्जा गालिब को शिक्षक नियुक्त करना चाहते थे। लेकिन जब मिर्जा गालिब पालकी पर सवार होकर कॉलेज के गेट पर पहुँचते हैं तो उनके स्वागत के लिए टामसन साहब वहाँ नहीं होते। जब इसकी बाबत गालिब टामसन साहब से पूछते हैं तो वे कहते हैं कि मुलाजिम और मेहमान की इज्जत एक जैसी नहीं हो सकती। यह सुनकर गालिब उल्टे पाँव अपने घर लौट जाते हैं। देखिए प्रस्तुत अंश-''मुलाज़िम और मेहमान की इज़्ज़त एक जैसी तो नहीं हो सकती।' टामसन बोले, 'अब तक आपका कलाम हमारे कॉलेज में पढ़ाया जाता है, पर जब आप कॉलेज के मुलाज़िम होंगे, तो आपका कलाम यहाँ पढ़ाया तो नहीं जा सकता।'

'आपके यहाँ पढ़ाने से यह ग़ालिब इतना छोटा आदमी हो जाएगा?'

'नौकरी करने पर आदमी अपने कलाम से नहीं, अपने ओहदे से जाना जाता है।'

'जले पर और नमक मत छिड़किए टामसन साहब!' मिर्ज़ा बोले, 'ऐसी जगह कोई काम क्यों करे, जहाँ उसकी इज़्ज़त का जनाज़ा धूमधाम से निकाला जाता है।' वे कहारों की ओर मुड़े, 'परदा गिरा दो मियाँ और हवेली चले चलो।''[11]

साहित्यकार की इस समाज में होने वाली विडम्बनाओं को इस लेख में अत्यंत सूक्ष्मता एवं व्यंग्यात्मकता से उभारने का प्रयास किया गया है। कहीं न कहीं ऐसी विडम्बनाओं से कोहलीजी का लेखकीय एवं अध्यापकीय जीवन भी दो-चार होता रहा है। यही कारण है कि उन्होंने गालिब के बहाने स्वयं अपनी पीड़ा को देखने तथा दिखाने का प्रयास किया है। उन्हीं के शब्दों में- ''इधर मुझसे कुछ छोटी, किंतु अत्यंत तीखी रचनाएँ लिखी गई हैं। वे मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण और अत्यंत प्रिय रचनाएँ हैं। किंतु उनका संक्षेप ही उन्हें प्रतिनिधि रचना होने से रोक देता है। 'हुए मर के हम जो रुसवा. . .' अनेक कारणों से मेरी सर्वाधिक प्रिय व्यंग्य रचनाओं में से एक है। विश्वविद्यालयों में नियुक्ति के लिए, अयोग्य लोगों द्वारा योग्य लोगों के परीक्षण की पीड़ा मेरे मन में बहुत पुरानी है। दिल्ली में ही राजनीति अथवा विभिन्न व्यवसायों के साधारण लोगों को अध्यापकों से

अधिक विद्वान मान लिए जाने का प्रचलन रहा है। पत्रकार अथवा वकील बनकर, किसी प्रकार का कोई चुनाव लड़कर, आप विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की चयन तथा प्रबंध समितियों के सदस्य हो सकते हैं और अध्यापकों का मनमाना अपमान कर सकते हैं। यह भी सत्य है कि विश्वविद्यालय अपने यहाँ पढ़ाने वालों का अधिक सम्मान नहीं करता। उन्हें विद्वान मानने के स्थान पर, वह उन्हें अपने कर्मचारी मात्र ही मानता है और कर्मचारी कभी अपने कर्म-स्थल पर सम्मान का पात्र नहीं होता। रचनाकार और अध्यापक अथवा समीक्षक का टकराव भी कहीं मेरे मन में है। अध्यापकों और समीक्षकों द्वारा मैंने श्रेष्ठ रचनाओं का कीमा बनते देखा है। प्रतिभा उन तीनों में ही हो सकती है (किंतु प्रतिभा के भी प्रकार और कोटियाँ होती हैं। और जहाँ प्रतिभा होती ही नहीं, वहाँ का क्या कहना?) मेरा मन सदा ही वर्तमान को अतीत में, और अतीत को वर्तमान में प्रतिबिंबित होते देखता आया है। संयोग ही कहें कि रचनाकार संबंधी ये सारी समस्याएँ किसी न किसी रूप में मुझे मिर्ज़ा ग़ालिब के जीवन में भी दिखाई दीं। और कहीं मेरा तादात्म्य उनसे हो गया। मेरा तादात्म्य ग़ालिब से हुआ या नहीं, उन समस्याओं से हो गया। आप यह भी मान सकते हैं कि मुझे ग़ालिब के संदर्भ से उन समस्याओं को सामने लाने का अवकाश दिखाई दिया। लेखकीय सम्मान का आहत और अपमानित होना मुझे बहुत अखरता रहा है और वैसा करने वाले लोगों को क्षमा करना मेरे वश में नहीं है। अत: यह रचना कथा न बनकर व्यंग्य ही बन सकती थी। व्यंग्य के कुछ छींटे साहित्यकारों पर भी पड़े हैं, क्योंकि साहित्यकार भी पूर्णत: निर्दोष और निष्कलंक नहीं हैं।''[12]

'जगाने का अपराध' भी कोहलीजी की श्रेष्ठ व्यंग्य रचना है जिसमें उन्होंने देश की शिथिल प्रशासन व्यवस्था एवं अराजकता पर टिप्पणी की है। भ्रष्ट शासन व्यवस्था में बदमाश और गुंडों को किस तरह पुलिस संरक्षण प्राप्त होता है, उनके अपराध को किस प्रकार महिमा-मंडित कर उसे हीरोइज्म की संज्ञा दी जाती है-इसमें हम स्पष्टता से देख सकते हैं। जब देश में ऐसा अंधा तंत्र हो तो लोगों को जगाने वाले, सत्य की सूरत दिखाने वाले लोग ही अपराधी बन जाते हैं- ''गोडसे को इसलिए फाँसी हुई कि उसने महात्मा गांधी को समाधि से जगाने की कोशिश की थी। केनेडी भाइयों को गोली इसलिए मारी गई, क्योंकि वे अपने देश को जगा रहे थे। देखिए, प्रत्येक आंदोलन में नेताओं को दंड मिलता है, क्योंकि वे किसी न किसी को जगाने का प्रयत्न करते हैं। चीन को हम अपना शत्रु मानते हैं, क्योंकि वह हमें सोने ही नहीं देता। अमरीका, रूस और दूसरे बड़े देश इस देश के सबसे बड़े मित्र हैं, क्योंकि उन्होंने सदा इस देश की जागृति का विरोध किया। वे चाहते थे कि यह देश सोया रहे।''[13] एक सोये हुए और दूसरे का अंधानुकरण करने वाले देश को जगाने के लिए इससे सार्थक व्यंग्य और क्या हो सकता है?

इन समस्याओं के अतिरिक्त समाज की कई ज्वलंत समस्याएँ यथा-जाति प्रथा, दहेज प्रथा, नारी की दयनीय स्थिति, बेरोजगारी, प्रदर्शनप्रियता, सांस्कृतिक विघटन, पारिवारिक विखंडन, बेमेल विवाह, भ्रष्टाचरण आदि भी कोहलीजी के व्यंग्य के विषय बने। भारतीय समाज में लड़कियों की दशा एवं दहेज की समस्या के साथ-साथ लोकतंत्र की विडम्बना पर उनका यह व्यंग्य देखिए-''इस देश में लड़की को अपनी पसंद का लड़का चुनने का अवसर कभी नहीं मिलेगा, कभी नहीं- जैसे मतदाता को अपनी पसंद का प्रत्याशी कभी नहीं मिलता, कभी नहीं।''[14] इस छोटे से अंश में उन्होंने एक साथ कई बातें बड़ी सूक्ष्मता एवं व्यंजकता से कह दी है। यही चीज नरेंद्र कोहली को अन्य व्यंग्यकारों से अलग करती है। व्यंग्य रचना के क्षेत्र में शिल्प की विविधता भी कोहलीजी की अपनी विशेषता है। इन्होंने व्यंग्य को उसके परंपरागत कलेवर से इतर रूप में भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जिसने व्यंग्य के आयाम को काफी विस्तृत और व्यापक किया है।

संदर्भः

1. नरेंद्र कोहली, विकीपीडिया, मुक्त ज्ञानकोश
2. व्यंग्य और मैं, नरेंद्र कोहली, व्यंग्य यात्रा, पृ. 48, संपादक-प्रेम जनमेजय, अक्टूबर-दिसंबर 2009
3. वही, पृ. 48
4. इतना मत रोना मेरी राधे, नरेंद्र कोहली, वही, पृ. 15
5. व्यंग्य और मैं, नरेंद्र कोहली, वही, पृ. 48
6. वही, पृ. 49
7. वही, पृ. 48
8. खुदाई, नरेंद्र कोहली, अभिव्यक्ति, इंटरनेट पत्रिका, संपादिका-पूर्णिमा वर्मन, 1 फरवरी, 2005
9. अमरीकन जांघिया, नरेंद्र कोहली, साहित्य यात्रा, पृ. 67, संपादक-डॉ० कलानाथ मिश्र, अप्रैल-जून, 2014
10. हुए मर के हम जो रुसवा, नरेंद्र कोहली, व्यंग्य यात्रा, पृ. 23, संपादक-प्रेम जनमेजय, अक्टूबर-दिसंबर 2009
11. वही, पृ. 25
12. वही, पृ. 17
13. देश के शुभचिंतक, नरेंद्र कोहली, पृ.106, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
14. वही, पृ. 259

❑❑❑

होली क्रॉस स्कूल, अमृतपाली, बलिया, उत्तर प्रदेश

अहसास – मेरा शक्ति स्रोत

● डॉ० कविता सुरभि

बी. ए. में मोतीलाल नेहरू कॉलेज, नई दिल्ली में मैंने प्रवेश लिया। डॉ० नरेन्द्र कोहली वहाँ लेक्चरर थे। उनका सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'तोड़ो कारा तोड़ो' पढ़कर मन विभोर हो रहा था। श्वेता से चर्चा की। उत्तर उदासीनता और आक्रोश के रूप में मिला। विभागीय नवागत स्वागत समारोह में सहपाठी श्वेता के गीत... 'बूझ मेरा क्या नाम रे! नदी किनारे गाँव रे!' पर जहाँ उसे तालियों के रूप में शाबाशी मिली, वहीं डॉ० कोहली की उग्र प्रतिक्रिया ने फिल्मी गीत को भोंडा प्रदर्शन मानकर कहा, ''व्यवहार गरिमामय होना चाहिए।'' उनकी इस बेबाक टिप्पणी ने जो सख्ती श्वेता के मन में उनके प्रति अंकुरित कर दी, समय के साथ वह स्थायी भाव में बदलती गई थी। उनकी प्रखरता और वक्रता, उनकी तेजस्विता और बौद्धिकता का अंग थी। इस तरह की बातें बाद में भी देखने-सुनने को मिलती रही थीं। जब उनके घर पर होने वाली गोष्ठियों में जाना आरंभ हुआ था... 'गोष्ठी पत्रिका' के प्रथम अंक में दिनेश कपूर का लेख पढ़ा... जिसमें दिनेश कपूर को पहले डॉ० कोहली में संवेदना नाम की कोई चीज नजर नहीं आई थी। अपनी कहानी पर उनकी प्रतिक्रिया सुन उसे निराशा हुई थी। रचना सुनाने का उत्साह बुझ गया था। फिर देर से पहुँचने के कारण जब उन्होंने उसे कॉलेज में होने वाले नाटक से निकाल दिया तो उसे डॉ० कोहली पर दया इसलिए आई कि ऐसे आदर्शवादी व्यक्ति का इस युग में निर्वाह कैसे होगा? क्या हाल होगा उनका! और बाद में उसे लगा, उन्होंने जीवन को देखने की दिनेश कपूर की दृष्टि को व्यापक और प्रखर किया है, ''अपने आत्मीय मित्रों के मध्य भी मैं कभी डॉ० कोहली को कोस नहीं पाया था। डॉ० कोहली ने सामने बैठकर या लिखकर, उपदेशात्मक ढंग से यह

उनकी प्रखरता और वक्रता, उनकी तेजस्विता और बौद्धिकता का अंग थी। इस तरह की बातें बाद में भी देखने-सुनने को मिलती रही थीं। जब उनके घर पर होने वाली गोष्ठियों में जाना आरंभ हुआ था... 'गोष्ठी पत्रिका' के प्रथम अंक में दिनेश कपूर का लेख पढ़ा... जिसमें दिनेश कपूर को पहले डॉ० कोहली में संवेदना नाम की कोई चीज नजर नहीं आई थी।

कुछ सिखाया-पढ़ाया होता तो शायद मैं कुछ भी न सीख पाता। उस घटना की एक खिसियानी प्रतिक्रिया रही होगी, पर लगा कि ऐसा काम वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका व्यक्तित्व बेहद-बेहद ईमानदार, निष्कपट और सीधा हो। जिसका जीवन के प्रति स्पष्ट और दृढ़ दृष्टिकोण हो और जिसमें सच्चाई कूट-कूट कर भरी हो। वह अपने साथ या अपने पुत्र के साथ या अपनी पत्नी के साथ भी वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा उसने मेरे साथ किया था।''1

पिछली एक-एक बात को स्मरण करती हूँ तो बहुत कुछ उभरकर आता है। हमारे अध्यापक होने के साथ-साथ वे बहुत सजग साहित्यकार माने जाते थे।

'गोष्ठी' के तीसरे अंक में डॉ० विवेकी राय का लेख पढ़ा जिन्होंने उन्हें मौलिक चिंतन और आधुनिकता से परिपूर्ण पाया, ''नए बदलते समाज की नई चेतना और नई संवेदना तथा नई सोच को ताजी ऊर्जा के साथ नए शिल्प में प्रस्तुत करने वाले, कथाकार नरेन्द्र कोहली वाल्मीकि और व्यास की बातों को उठाते हैं तो उसे प्रस्तुत करने में अपनी बात बना देते हैं और अविरोध, निर्विरोध कह डालते हैं। अपने इसी नवाग्रही व्यक्तित्व के चलते वे अत्यंत जागरूकता के साथ जहाँ भी अवसर मिलता है, नएपन को अन्वेषित करते रहते हैं।''2

दिनेश कपूर, डॉ० विवेकी राय, डॉ० आशा जोशी आदि अन्य बहुत लोगों का मानना था, डॉ० कोहली की कठोरता में उनका संवेदनशील रूप छिपा हुआ है। पर उनको जब-जब मैंने समझा, उनके स्नेहमय रूप से ही समझा। चाहे वह उनका व्यंग्यकार रूप हो, सामाजिक या सांस्कृतिक रूप हो अथवा आध्यात्मिक। वे मेरे लिए प्रेम भाव से भरे वे गुरु थे जिनकी उदारता, विरोध को सहकर सत्य का समर्थन कर रही थी। उनकी तर्कशीलता नहीं, स्नेहमय रूप ने मुझे विकसित किया।

जबसे मुझमें सोचने-समझने की बुद्धि विकसित हुई थी, मैंने पाया था, लेखन के प्रति एक आकर्षण मेरे मन में तब से ही है। स्कूल के दिनों में घर में सरिता, गृहशोभा, बाल पाकिट बुक्स, नंदन, चंपक आदि पत्रिकाएँ आती थीं। पत्रिकाओं की रचनाएँ पढ़कर वैसा ही कुछ लिखने का प्रयास करती थी। तब यह बात नहीं समझती थी कि मेरे अपने मन में अभिव्यक्ति की विकट आकांक्षा है।

मन में कहीं कुछ घटित होता, तो कलाकार मन कुछ लिखकर उस तड़प से मुक्त होता। 12वीं कक्षा तक छिट-पुट लिखा जाता रहा, किंतु उसने कोई स्वरूप ग्रहण नहीं किया।

मेरी एक ही जिद्द थी कि मुझे हिंदी साहित्य पढ़ने दिया जाए। पिताजी चाहते थे कि मैं मेडिकल प्रवेश परीक्षा की तैयारी करूँ। मैं प्रायः सोचती... मेरे जीवन की सार्थकता क्या है? और एक रात... कीचड़ के मध्य खिले कमल पर मैंने आँख मूंदकर तपस्या करते शिवजी को देखा। लोग आते, उनके समक्ष माथा टेकते, उनके करीब विद्यमान सिक्के के छोटे से ढेर पर अपना सिक्का चढ़ाते और आगे बढ़ जाते। सहमी, सिमटी खड़ी मैं भीड़

छंट जाने पर उनकी ओर बढ़ी। अपनी मुट्ठी में बंद सिक्का ढेर में डालने के लिए मैंने हाथ बढ़ाया ही था कि अकस्मात् शिवजी के नेत्र खुल गए।

मैं काँप उठी। दृष्टि उठाकर उन्हें देखा ... कितना स्नेह ! कितना वात्सल्य ! उनके मुख पर कैसी दिव्य मुस्कान थी। ऐसा प्रेम ! ... इस रूप को मैंने पहले कभी नहीं देखा था। मेरा भय जाता रहा। आँखों से अश्रु ढुलकने लगे। उन्होंने अपना हाथ मेरी ओर बढ़ाया। मैंने सिक्का उन्हें थमा दिया। उनके नेत्र पुनः खिल गए।

निद्रा टूटी तो मेरा मन असाधारण आह्लाद से भरा हुआ था। रोम-रोम जैसे खिल उठा था। जीवन का रूप वही था, किंतु न जाने कैसी सुखद अनुभूति थी, जिसने मेरे जीवन में रंग भर दिए थे।

वर्ष समाप्त हुआ और पिताजी ने मेरा प्रवेश दिल्ली विश्वविद्यालय में करा दिया। वहीं मैं डॉ० नरेन्द्र कोहली से मिली। अपनी विकलता को नियंत्रित करना मेरे लिए बहुत कठिन हो गया था। चकित सी अवाक् मैं उन्हें देखती रह गई थी ... ममता और स्नेहभरी शिवजी की जिस दृष्टि ने मुझे जिलाया था, वह छवि मुझे डॉ० कोहली में दिखाई दी थी।

शिवजी को इस रूप में देखना वस्तुतः मेरे मनोविज्ञान की उपज थी। उनसे वात्सल्यमय रूप का सुख पाया तो शिवजी के आत्मीय भाव, उनके प्रेममय रूप को मैंने डॉ० नरेन्द्र कोहली के ममतामय रूप में आरोपित कर देख लिया।

वे प्रथम वर्ष की कोई कक्षा नहीं लेते थे, किंतु कॉलेज के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में उन्हें देखने-सुनने का अवसर मिलता ही रहा। इस बात पर बार-बार ध्यान आकर्षित हुआ कि उनके पास कहने को अपनी बात है। उनके संयोजन में प्रत्येक शनिवार को कॉलेज में एक गोष्ठी का आयोजन होता था, जिसमें विद्यार्थी अपनी मौलिक रचनाएँ सुनाते थे। अपनी कहानी सुनाने के बाद उत्सुकता से मैं उनकी ओर ताक रही थी उनकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा में।

कथा एक नवयुवक की अपने प्रति उदासीनता की थी जिसके सामने बार-बार यह तथ्य उभरकर आता है कि महत्व 'मार्किट वैल्यू' का है। सफलता और यश भी उसी को मिलते हैं जो बाजार की मांग को देखकर पढ़-लिख रहा है, नौकरी कर रहा है। किसी भी बड़ी उपलब्धि के लिए स्वयं को बाजार के हाथों बेचना आवश्यक है।

डॉ० कोहली ने गंभीर दृष्टि से मुझे देखा। उनका पहला प्रश्न था, उपलब्धि हम मानते किसको हैं? उन्होंने स्वभाव की बात कही। उनकी स्थापना थी कि अपने-आपसे, अपनी प्रकृति से लड़कर हम सुख नहीं पा सकते। प्रकृति ने हमें क्या देकर इस संसार में भेजा है, क्या बनाकर भेजा है, हमारे भीतर क्या है, यह जानने का प्रयत्न हम करें। स्वधर्म के विरुद्ध जाने को उन्होंने अपराध बताया।... मेरे लिए यह बहुत नई-सी बात थी।

कॉलेज पत्रिका के हिन्दी विभाग के संपादक डॉ० कोहली थे। कॉलेज पत्रिका के लिए रचनाएँ स्वतः ही एकत्रित हो जाती हैं। रचना की त्रुटियों को सुधारने के निर्देश देने के लिए जिन विद्यार्थियों को डॉ० कोहली ने बुलाया, उनमें से एक मैं भी थी। सुधार की

आकांक्षा किसी में नहीं थी। कॉलेज पत्रिका के लिए प्रायः रचनाएँ इधर-उधर की पत्रिकाओं या अन्य कॉलेज पत्रिकाओं से लेकर अपने नाम से दे दी जाती हैं। मेरा मन लेखक का था। मैं स्वयं अपना लिखा हुआ, छपा देखना चाहती थी।

मैं उनके निकट पहुँच गई। अपनी लिखी कहानी पर उनकी प्रतिक्रिया ने मुझे बहुत बल दिया। उन्होंने कहा, ''कहानी अच्छी है, पर तुम चाहो तो और अच्छा लिख सकती हो।'' उनके निर्देशन में मैंने कहानी में सुधार किया। यह कहानी 'उपहार' के नाम से कॉलेज पत्रिका में छपी और बहुत चर्चित हुई। समझ विकसित होती गई। अभिव्यक्ति मेरी प्यास थी और यह तृष्णा लेखन के माध्यम से ही तृप्त हो सकती थी। रचना को सुधारने के लिए, जितने परामर्श जितनी बार उन्होंने दिए, स्वयंरचित रचना को उतनी बार मैंने सुधारा।

अपने सहपाठियों, प्रवर साथियों आदि के माध्यम से डॉ० कोहली द्वारा की गई मेरी प्रशंसा मुझ तक पहुँची ... ''बहुत लगन है इस लड़की में, जितनी बार कहो, रचना सुधार देती है।'' आज सोचती हूँ, क्या उनके आत्मीय व्यवहार या सौजन्य के कारण मैं बार-बार कहानी सुधारकर उनतक पहुँच जाती थी?

जिन बातों के कारण मेरे सहपाठी उनसे रुष्ट हो जाया करते थे, उनकी वे ही बातें मुझे उनतक खींच ले जाया करती थीं। यह व्यक्ति सच बोलने का आत्मबल रखता है, उनकी यही स्पष्टवादिता मुझमें उनके प्रति विश्वास जगाती थी।

सन् 1995 में, जब उन्होंने कॉलेज की नौकरी से स्वैच्छिक अवकाश लिया तो उनके घर पर होने वाली गोष्ठियों के माध्यम से उनके निकट आई। यह गोष्ठी सबसे भिन्न थी। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बात कहने का अधिकार था। प्रत्येक की अपनी धारणा, विश्लेषण करने का अपना दृष्टिकोण था। रचना पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाले की बात को काटकर द्वेष उत्पन्न करने का अधिकार डॉ० कोहली किसी को नहीं देते थे। गोष्ठी का परिवेश सर्वथा रचनात्मक था। अब तक व्यक्तित्व को निरखना सीखा था, अब जाना ...''रचनाकार का कर्तव्य समाज को उचित दिशा देना है, पथभ्रष्ट करना नहीं।'' वे रचनाओं पर सैद्धांतिक चर्चा करने के स्थान पर व्यावहारिक रूप से सुधार की विधियाँ सुझाते, जिसने मेरी लेखकीय क्षमता को विकसित करने में बहुत मदद की।

बी.ए. में ही थी, तो उनके कुछ उपन्यास, कुछ अन्य रचनाएँ पढ़ीं। रचनाओं को पढ़कर डॉ० कोहली के प्रति भावात्मक लगाव बढ़ता चला गया। आज भी मैं जब उनकी रचनाओं को पढ़ती हूँ, तो ऐसा लगता है, जैसे वे कहीं आस-पास ही हैं। मेरे अस्तित्व के बहुत करीब। लेखन के माध्यम से एक नया-सा संबंध उनसे जुड़ता गया। मुझमें सीखने की ललक थी, उनके अध्यापक रूप से भी सीख रही थी और लेखक रूप से भी।

अवस्था कम थी, मन कोमल था। मेरे लिए संसार बहुत मोहक, बहुत सुंदर था। मन श्रद्धा, आशा और प्रेम से भरा हुआ था। जिस समय मेरी मधुरता सामाजिक यथार्थ से

त्रस्त हो रही थी, उस समय मैंने अपने मन को समझा। मैंने पाया, मेरा मन पाप, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ना चाहता था।

प्रत्येक माँ-बाप की तरह मेरे माँ-पिताजी की भी महत्वाकांक्षा थी कि उनके बच्चे किसी उच्च पद पर आसीन होकर धन रूपी सुख से अपनी सांसारिक इच्छाएँ पूरी करें। उन्हीं आकांक्षाओं को पूरा कराने के लिए वे हमें शिक्षा-दीक्षा और सुविधाएँ प्रदान कर रहे थे। मैं देखती थी, आस-पड़ोस, परिचित, सब इन्हीं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए चिंतित हैं और इन इच्छाओं के अनुरूप कार्य कर रहे हैं। मैं नहीं जानती थी कि क्यों मुझे आदर्श लुब्ध करते थे। अनैतिकता, छल और झूठ मुझे पीड़ित करते थे। शायद इसीलिए जीवन को स्वच्छतापूर्वक जीना चाहती थी।

डॉ० नरेन्द्र कोहली को स्वच्छ और आदर्श भरा जीवन जीते हुए देखती तो मन बहुत पुलकित होता। मेरे लिए सुख का अर्थ बदल रहा था।... जब मैं देखती, चापलूसी करने वाले विद्यार्थी अध्यापक की कृपा प्राप्त कर अच्छे अंक प्राप्त करना चाहते हैं, हर कार्य में अपना लाभ, अपना स्वार्थ देखते हैं तो जीवन के उस रूप को मैं अपना नहीं पाती थी। व्यावसायिक जीवन में आने पर भी धन-प्राप्ति के लिए राजनीति अपनाकर किसी की चाटुकारिता करना मेरे स्वभाव में नहीं था। अन्याय का साथ नहीं दे पाती थी।

मैं उन्हें समझ रही थी। उनका सानिध्य मुझे सद् की ओर प्रेरित कर रहा था, यह उन्होंने समझा। उनके चेहरे पर एक आह्लादजनक संतोष सदा पाया मैंने। आज लगता है, मेरे मन में अच्छाई के प्रति आस्था थी। मैंने उन्हें नहीं, उस सत्य को चाहा, आत्मबल को चाहा जिसकी रक्षा वे अपने व्यवहार और जीवन में कर रहे थे।

मेरे लिए सबसे अधिक सुखद यह रहा कि कर्म-सिद्धांत की व्याख्या डॉ० कोहली के लेखन से मुझे मिल गई, ''कर्म की इच्छा रखिए, अपना लक्ष्य लेकर चलिए, सफलता की कामना कीजिए, पर परिणाम में आसक्ति मत रखिए, क्योंकि सिर्फ कर्म पर हमारा अधिकार है, फल का स्वरूप तो ईश्वर के हाथ में है।'' ... ''कर्म के चयन में अधिकार होने, और अपनी इच्छानुरूप उसका फल प्राप्त करने का अधिकार न होने'' का भाव समझ में आया, तो जीवन जीना सरल होता गया। कोई काम बिना सफलता की कामना के हम कहाँ करते हैं। अपने व्यक्तिगत काम में तो सफलता की इच्छा करते ही हैं, नौकरी में भी बच्चों से यह आशा जुड़ जाती है कि हमारे पढ़ाए को वे गहराई से आत्मसात करें, अधिक से अधिक अंक लाएँ। परिवार में भी प्रत्येक से हम कोई न कोई आशा रखते हैं। जब हमारी इच्छा असफलता से टकराती है, तो कितनी निराशा होती है। बिना कामना के कर्म !! सबको देखती थी, जब-तब ईश्वर से अपने इच्छित फल की याचना करते हैं, मनोनुकूल फल न मिलने पर पीड़ित होते हैं। कभी-कभी ईश्वर पर दोषारोपण भी करते हैं। डॉ० कोहली से कर्म-सिद्धांत पाया तो यह आश्वासन मिला कि जो फल आपको मिलेगा, उसी में आपका हित है इसलिए सिर्फ लक्ष्य को लेकर चलें। कर्म की इच्छा रखें।

मेरे मन में यह आस्था दृढ़ होती चली गई कि प्रकृति के हर कार्य, हर योजना के पीछे कोई कारण है, जो हमारे लक्ष्य और विकास से जुड़ा है।

मैं जानती थी कि बहुत कुछ पूर्वनिर्धारित है, किंतु श्रीकृष्ण के निष्काम भाव ने जब यह बोध कराया कि संचित कर्म द्वारा निर्धारित भाग्य के अन्तर्गत हमें कर्म की स्वतंत्रता है, तो बहुत बल मिला। इस सिद्धांत में सबसे बड़ी बात यह है कि ''कर्म में सुविधा न देखें।'' ... मैंने समाज में यही पाया था कि कार्य की सफलता ही नहीं, लोगों के मन में यह बात भी रहती है कि ऐसा कौन-सा ढंग अपनाएँ कि कार्य बिना किसी परेशानी के बहुत आसानी से संपन्न हो जाए। पर उनकी बात पर विचार किया तो पाया, ''यदि कार्य में सुविधा की ओर आकर्षित न हों तो सबसे पहले व्यक्ति के मन में न्याय-अन्याय का विचार उठेगा।'' ... इस छोटे से सिद्धांत में मानवता की भावना निहित थी। उनके साहित्य में निहित इस विचारधारा के कारण मन को निर्मल और सत्व को अपनाने का संघर्ष बढ़ता चला गया। मेरे मन में इस विश्वास ने जन्म ले लिया था, अनुकरण से हम कभी सफल नहीं हो सकते।

उनके इस चिंतन ने शिक्षा के उच्च लक्ष्य तक पहुँचने के मेरे स्वप्न को धैर्य दिया और लगन के साथ कर्म करते रहने का साहस भी।

गुरुदेव के सानिध्य में मैंने महसूस किया, जैसे मनुष्य के शरीर से रोग के कीटाणु निकलकर अन्य लोगों को रुग्ण करते हैं, उसी प्रकार सत्य, अहिंसा, प्रेम, भक्ति की भी रश्मियाँ होती हैं-यदि संपर्क में आनेवाले के मन की भूमि उर्वर हो, ग्रहणशीला हो तो ये रश्मियाँ मिलने-जुलने वालों पर अपना प्रभाव डालती हैं। ... मेरे लिए सुख, हर्ष और उत्साह का अर्थ, मात्र संचय और भोग तक सीमित नहीं रह गया था। यदि मैं सच को अपनाना चाहती थी। विद्या, सेवा, त्याग, सत्संग, भक्ति, प्रेम और करुणा को जीवन का अंग बनाना चाहती थी, तो इसलिए नहीं कि ''ऐसा होना चाहिए!'' जीवन को इस रूप में जीने की व्याकुलता थी मुझमें। इससे सुख मिल रहा था इसलिए ये संस्कार मन की गहराई तक उतर गए थे। मेरे लिए मैत्री का आधार आचरण और सद्‌गुण था।... आचरण का बहुत स्पष्ट प्रभाव दूसरों पर पड़ता है।

इस स्वभाव के कारण एक समय मन में संन्यास धारण करने की बहुत प्रबल इच्छा थी। लेकिन 'महासमर' ने समझाया, संसार के मध्य रहकर मन को अनासक्त करना भी तो साधना ही है। वेदांत को घर में लाया जा सकता है। जीवन को बहुत सरल बनाया जा सकता है।

आधुनिक चिंतन के मापदंड कुछ भी हों, पर मैंने मान लिया, अपने स्वधर्म जो ईश्वर ने मुझे बनाया है, जिस प्रवृत्ति के साथ संसार में भेजा है, उसके अनुसार जीने में मेरी मौलिकता और आधुनिकता है। मेरा व्यक्तित्व वह था ही नहीं जो पूर्ण व्यावसायिक बनने को अपना मंत्र मान ले। अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए मैं नैतिक-मूल्यों को ताक पर रख नहीं सकती थी। मेरे मन में उनके ये शब्द सदा गूंजते रहे, ''युवावस्था में व्यक्ति अपनी

मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक ऊर्जा को सबसे अधिक विकसित कर पाता है।'' इसीलिए अध्यापक के रूप में धन को अपना लक्ष्य नहीं बनाया। दृष्टिकोण को उदात्तीकृत किया। उनसे ही सीखा मैंने कि धन या यश के लोभ को अपना लक्ष्य बनाना बहुत व्यावसायिक है। शायद इसीलिए इस बात की चिंता ने मुझे कभी नहीं सताया कि मेरे लेखकीय रूप की कोई पहचान नहीं बन पाएगी।

मैंने सदा पाया कि अपने मन को उन्होंने बहुत अधिक समझा है। उसी दिशा में कर्म किया है। जीवन-लक्ष्य चुना है। मेरा मन उनके कर्म और मन की गति को इतना अधिक आत्मसात कर रहा था कि मेरे मन ने अपने-आप ही निर्णय ले लिया था कि किस निश्चित दिशा में चलकर मुझे तृप्ति और सफलता मिलेगी। इसीलिए भटकने का विकल्प ही सामने नहीं आया।

उनके साहित्य पर एम.फिल, पी-एच. डी. करते हुए काफी हद तक स्थूल और सूक्ष्म के अंतर को समझा।

एक बार मैंने डॉ० नरेन्द्र कोहली से पूछा था, ''सर, आप व्यंग्य से अध्यात्म में प्रवेश कर गए। आपके व्यक्तित्व में यह परिवर्तन कैसे हुआ? उन्होंने कहा, ''लिखते-लिखते।'' ...उनकी बात अब समझ में आई है। अपने लिखे को ही हम कितना आत्मसात करते हैं। तभी तो पाठक पर भी लेखक का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है।

उन पर शोध किया तो बहुत हँस कर लोगों ने कहा, इस वैज्ञानिक युग में धर्म, अध्यात्म और वेदांत से सिर मार रही हो।... पर उनके सानिध्य ने ही इस बात को समझाया कि ''वैज्ञानिक प्रगति ईश्वर के विधान से बाहर नहीं। मनुष्य ईश्वर से ज्यादा बुद्धिमान भी नहीं है। मनुष्य ने विज्ञान के नाम पर ईश्वर के विधान को ही तो खोजा है। विज्ञान और अध्यात्म एक-दूसरे के विरोधी तो नहीं हैं।'' और तभी इस तथ्य को भी जाना कि धर्म-ज्ञान सिर्फ संन्यासियों का अधिकार नहीं है। अध्यात्म सद्‌गुण उत्पन्न करता है, दुर्गुणों को दूर करता है।

मैंने हमेशा पाया, गुरुदेव से भय नहीं लगता, क्योंकि मन उनकी भक्ति करता है, उनसे प्रेम करता है। भय तो इस बात से होता है, कहीं मेरे जीवन में असत्य का प्रवेश न हो जाए, क्योंकि गुरु सत्य से प्रेम करते हैं, सात्विकता का सम्मान करते हैं, सद्‌गुणों में उनकी आस्था है, त्याग को वे श्रेयस्कर मानते हैं।

पहले मुझे इस बात पर आश्चर्य होता था कि वे जितने जागरूक लेखन के प्रति हैं, उतने ही परिवार के प्रति भी। इसीलिए नौकरी से अवकाश लेने की इच्छा इतनी तीव्र होने पर भी परिवार के दायित्व के कारण रुके रहे?... पति या पिता का रूप हो अथवा गुरु या मित्र का ... हर रूप में उन्हें मैंने एक बेहद जिम्मेदार व्यक्ति पाया। सामाजिक दायित्व और परिवार इन सबके मध्य उन्होंने संतुलन बैठाया है।

साथ होने के अहसास से उन्होंने कभी वंचित नहीं होने दिया। इतने वर्षों में... नियमित संपर्क रहा हो या नहीं, डॉ० कोहली के सरल वात्सल्य में सदा मैंने बहुत शांति और संतुष्टि पाई।

कहते हैं, ''जहाँ कहीं सत्य है, वहीं शिवत्व है, सौन्दर्य है।'' जीवन को इस रूप में जीने से बड़ा सुख कहीं नहीं है। यह सुख मुझे डॉ०नरेन्द्र कोहली से मिला।

मेरी सद्वृत्तियों को उद्बुद्ध किया गुरुदेव नरेन्द्र कोहली के साहित्य और उनके व्यक्तित्व ने।

उनके साथ ने वह अहसास दिया, जिसके कारण कला मेरे लिए आत्मज्ञान, सुख और उपलब्धि का कारण बनी। उन्हें देखकर, सुनकर, जानकर और आत्मसात करते-करते ही मन में यह इच्छा प्रबल होती जाती है कि जीवन के उदात्त और सात्विक पक्ष को आत्मसात कर सकूँ, उसका चित्रण कर सकूँ। मेरी लेखकीय ऊर्जा भी इस रूप में विकसित होना चाहती है कि मेरा और मेरे चरित्रों का आपस में तादात्म्य हो सके।

उनसे मेरी ऊर्जा को सार्थक दिशा मिली, इसलिए भाव-विभोर मन विह्वलता से सदा भीगा ही रहता है।

कोई विश्वास करे तो मन उसे बनाए रखना चाहता है। मेरे मन में सदा यह चुनौती रही है कि जिस स्वस्थ दृष्टिकोण को उनसे पाया है, उसे विकसित करते जाने की तृष्णा मुझमें सदा बनी रहे। मैं उन्हें और कुछ न भी दे सकूँ तो उनके संस्कारों को अपने भीतर जीवित रखने की साधना सदा करती रहूँ। (21.3.2009)

---

1. गोष्ठी-1, डॉ० कोहली की पचपनवीं वर्षगांठ उन पर केन्द्रित अंक।
2. गोष्ठी-3, षष्ठिपूर्ति, 6 जनवरी के अवसर पर नरेन्द्र कोहली पर केन्द्रित अंक।

❑❑❑

लेखकों से अनुरोध

❶ मौलिक तथा अप्रकाशित-अप्रसारित रचनाएँ ही भेजें।
❷ रचना फुलस्केप कागज पर साफ लिखी हुई अथवा शुद्ध टंकित मूल प्रति भेजें।
❸ रचनाकार/लेखक अपना पूरा परिचय, पता, फोन नम्बर एवं फोटो साथ भेजें।
❹ लेखकों से निवेदन है कि लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रखें।

ई-मेल : sahityayatra@gmail.com

नरेन्द्र कोहली के उपन्यासों में मिथक

● सुस्मित सौरभ

लगभग एक सौ से भी अधिक कृतियों की रचना करने वाले कालजयी रचनाकार नरेन्द्र कोहली आधुनिक हिन्दी के बहुचर्चित लेखकों में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। कोहलीजी ने साहित्य के सभी प्रमुख विधाओं यथा उपन्यास, व्यंग्य, नाटक, कहानी, संस्मरण, निबंध, पत्र आदि और आलोचनात्मक साहित्य में अपनी लेखनी चलाई, साथ ही साथ आधुनिक हिन्दी साहित्य के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में अपनी अग्रणी भूमिका निभायी है। ऐसा माना जाता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में नरेन्द्र कोहली के लेखन से ही सांस्कृतिक पुनर्जागरण की शुरुआत होती है। उनकी तुलना विश्व साहित्य के प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार लियो तोल्स्तोय और हिन्दी साहित्य के महान उपन्यासकार प्रेमचंद से की जाती रही है। कुछ आलोचकों और विद्वानों ने तो उनके साहित्य को प्रेमचंद से भी ज्यादा प्रभावोत्पादक होने का दावा किया है। कोहलीजी ने भारतीय मिथकीय महाकाव्यात्मक कथाओं को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में बड़ी ही सुगम और बोधगम्य प्रस्तुति दी है तथा हिन्दी साहित्य में महाकाव्यात्मक उपन्यास विधा की शुरुआत की है।

कुछ आलोचकों और विद्वानों ने तो उनके साहित्य को प्रेमचंद से भी ज्यादा प्रभावोत्पादक होने का दावा किया है। कोहलीजी ने भारतीय मिथकीय महाकाव्यात्मक कथाओं को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में बड़ी ही सुगम और बोध गम्य प्रस्तुति दी है तथा हिन्दी साहित्य में महाकाव्यात्मक उपन्यास विधा की शुरुआत की है।

हिन्दी साहित्य में 'मिथक' शब्द एक दीर्घ पौराणिक विस्तृत परंपरा का द्योतक है और विद्वानों का ऐसा मानना है कि मिथक का जन्म प्रकृति में मानव के उद्‌भव के साथ ही हुआ है। मनुष्य आदिम काल से ही अपनी सहज स्वभावगत प्रवृति के कारण अपने वर्तमान बोध और अतीत की स्मृतियों को मौखिक अथवा लिखित माध्यम द्वारा सुरक्षित करता चला आ रहा है। पुराण, महाकाव्य और कथा साहित्य में यही स्मृति बोध तथ्य-सत्य और गल्प-सत्य के रूप में अभिव्यक्ति पाता रहा है। 'पुरा नवं भवति' अर्थात् जो

पुराना नहीं होता है, सदैव नया होता है। इसीलिए आज भी पौराणिक कथाओं को जीवन के समीप देखा जाता है। ये प्राचीन होते हुए भी वर्तमान के लिये जीवनोपयोगी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। पुराण कथा और पुरावृत अतीत के मिथक हैं किन्तु मिथक को केवल उन्हीं में परिसीमित नहीं किया जा सकता। कालांतर में समाज की बहुलता और सभ्यता के विकास के साथ ही मिथकीय चेतना जैसी अवधारणाएँ विकसित हुईं। संसार की किसी भी सभ्यता की जययात्रा इन मिथकों के बिना संभव नहीं, क्योंकि मिथक उस सभ्यता के विकास क्रम में उसकी संस्कृति के अभिव्यक्त रूप होते हैं। इन मिथकों का आधुनिक विकास हुआ है। समाज बदला है और उसके साथ लोगों का मिथक के प्रति व्यवहार भी बदला है। मिथक की उपरोक्त व्याख्या का मूर्त रूप हमें नरेन्द्र कोहलीजी के मिथकीय उपन्यासों में सजगता से देखने को मिलता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य में मिथक की जिस परंपरा की शुरुआत की थी उसे आगे बढ़ाते हुए नरेन्द्र कोहली ने एक सम्पूर्ण युग की प्रतिष्ठा कर डाली। कहने का तात्पर्य है कि कोहलीजी के साहित्य पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यापक प्रभाव पड़ा। आचार्य द्विवेदी की ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्यों के मौलिक वैज्ञानिक विश्लेषण की नींव पर नरेन्द्र कोहली ने रामकथा, कृष्णकथा और महाभारत की भव्य इमारतें खड़ी कर डालीं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके मिथकीय उपन्यासों के बारे में लिखा है-

''रामकथा को आपने एकदम नयी दृष्टि से देखा है। 'अवसर' में राम के चरित्र को आपने नयी मानवीय दृष्टि से चित्रित किया है। इसमें सीता का जो चरित्र आपने चित्रित किया है वह बहुत ही आकर्षक है। साथ ही सुमित्रा का चरित्र आपने बहुत ही तेजस्वी नारी के रूप में उकेरा है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि यथासंभव रामायण कथा की मूल घटनाओं को परिवर्तित किये बिना आपने उसकी मनोग्राही व्याख्या की है।''

पौराणिक घटनाओं की औपन्यासिक पुनर्व्याख्या भी वर्तमान से जुड़कर हृदयग्राही बन जाती है। रामायण और महभारत की मिथकीय कथा ने साहित्यकारों को प्रारंभ से ही विशेष रूप से आकर्षित किया है। सन् 1975 ई. में नरेन्द्र कोहली के रामकथा पर आधारित उपन्यास 'दीक्षा' के प्रकाशन से ही हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक पुनर्जागरण और महाकाव्यात्मक उपन्यास युग की शुरुआत मानी जाती है। तात्कालिक अंधकार, निराशा, भ्रष्टाचार के युग में नरेन्द्र कोहलीजी ने राम के रूप में एक कालजयी पात्र को चुना जो सम्पूर्ण भारतीय आवाम में प्रसिद्ध थे। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर अत्यधिक रूढ़ हो चली रामकथा को सरल और सुगम बनाकर जिस प्रकार से उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है, वह अविस्मरणीय है। हालाँकि महाकाव्य का समय बीत चुका है और साहित्यिक भाषा के संवाहक का रूप पद्य के स्थान पर गद्य ने ले लिया है, फिर भी कोहलीजी ने रामकथा को भक्तिकाल की भावुकता से निकालकर आधुनिक सामाजिक यथार्थ की

धरातल पर खड़ा किया और महाकाव्यात्मक युग की शुरुआत की। कोहलीजी के रामकथा के शृंखला की शुरुआत 'दीक्षा' (1975), 'अवसर' (1976), 'संघर्ष की ओर' (1978) और 'युद्ध'(1979) से हुई जो बाद में 'अभ्युदय' (दो खंड) के नाम से प्रकाशित हुआ। रामकथा की इस शृंखला के अन्य उपन्यास हैं 'साक्षात्कार', 'पृष्ठभूमि' और 'अभियान'। इस प्रकार सात कांडों की राम कथा को कोहलीजी अपने उपरोक्त सात उपन्यासों में समाहित किया है। इस शृंखला में राम को आधुनिक काल के सामंती व पूंजीवादी शोषण, अत्याचार, दमन आदि से त्रस्त मानवता के उद्धारकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'अभ्युदय' प्राचीनता तथा नवीनता का अद्‌भुत संगम है जिसे पढ़कर रामकथा की सामयिकता, लौकिकता, तर्कसंगतता तथा प्रासंगिकता का अनुभव होता है। यह किसी अपरिचित और अद्‌भुत देश तथा काल की कथा नहीं है। यह जीवन से सम्बन्धित समस्याओं पर केन्द्रित एक ऐसी कथा है, जो सार्वकालिक और शाश्वत है और प्रत्येक युग के व्यक्ति का इसके साथ पूर्ण तादाम्य होता है। 'अभ्युदय' प्रख्यात कथा पर आधारित अवश्य है किन्तु इसमें न कुछ अलौकिक है, न अतिप्राकृतिक ।

रामकथा की शृंखला से मिली लोकप्रियता ने नरेन्द्र कोहली को महाभारत की कथा को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत करने के लिये प्रेरित किया जिसके फलस्वरूप एक और कालजयी महाकाव्यात्मक उपन्यास शृंखला 'महासमर' की शुरुआत हुई। महासमर शृंखला में कुल आठ उपन्यास हैं-'बंधन' (1988), 'अधिकार' (1990), 'कर्म' (1991), 'धर्म' (1993), 'अंतराल' (1995), 'प्रच्छन्न' (1997), 'प्रत्यक्ष' (1998) और 'निर्बंध' (2000)। 'महासमर' कोहलीजी का सर्वाधिक प्रसिद्ध उपन्यास है जिसकी लोकप्रियता की तुलना प्रेमचंद के गोदान से की जाती है। उनकी यह शृंखला भी उतनी ही पठनीय है जितनी रामकथा से संबद्ध शृंखला। नरेन्द्र कोहली ने इस कृति को अपने युग में पूर्णतरूप से जीवंत कर दिया है। उन्होंने अपने इस उपन्यास में जीवन को उसकी संपूर्ण विराटता के साथ अत्यंत मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया है। महाभारत की कथा के आधार पर रचित मिथकीय उपन्यासों में कोहलीजी का एक अन्य उपन्यास है 'सैरंध्री'। पाण्डवों का अज्ञातवास महाभारत कथा का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और मार्मिक स्थल था। यह एक वर्ष का समय उनकी असली परीक्षा का काल था, जब उन्हें अपना रूप त्याग कर अज्ञातवास में रहना था। लेकिन पाण्डवों से भी ज्यादा मार्मिक थी द्रौपदी के रूपान्तरण की समस्या। द्रौपदी सुन्दरी होने के नाते सबके आकर्षण का केन्द्र थी और उसने कभी सेवा-टहल का काम नहीं किया था। ऐसी स्थिति में उस एक वर्ष को सैरंध्री बनकर काटना द्रौपदी के लिए कैसी अग्नि परीक्षा रही होगी, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। नरेन्द्र कोहली ने इस उपन्यास में इसी प्रश्न को अंकित किया है इसे अपनी सुपरिचित शैली में स्पष्ट रूप में चित्रित किया है।

नरेन्द्र कोहली के मिथकीय उपन्यासों की श्रृंखला में एक विशिष्ट मोड़ उनके उपन्यास 'वसुदेव' में दृष्टिगत होता है जहाँ अवतार के मानवीकरण का प्रयत्न त्याग कर कृष्ण को 'अवतार' के रूप में ही चित्रित किया गया है। व्यक्तित्व के धरातल पर वह चरित्र की शुद्धता की ओर बढ़ रहे हैं, समाज के धरातल पर सारे प्रहार अपने वक्ष पर झेलकर जागृति का शंख फूंक रहे हैं और राजनीति के धरातल पर एक सच्चे क्षत्रिय के रूप में शस्त्रबद्ध हो सारी दुष्ट शक्तियों से लोहा ले रहे हैं। इसमें उपनिषदों का अद्वैत वेदान्त भी है, भागवत की लीला और भक्ति भी तथा महाभारत की राजनीति भी। यह एक मौलिक सृजनात्मक उपन्यास है जिसमें दुरूहता अथवा जटिलता नहीं है।

नरेन्द्र कोहली की मिथकीय दृष्टि के संदर्भ में डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है-''डॉ० नरेन्द्र कोहली का हिन्दी साहित्य में अपना स्थान है। विगत तीस-पैंतीस वर्षों में उन्होंने जो लिखा वह नया होने के साथ-साथ मिथकीय दृष्टि से एक नई जमीन तोड़ने जैसा है।''

मिथक कोहलीजी के उपन्यास की आंतरिक संरचना से बन गये हैं जो उनकी रचना के सृजन और सौंदर्य में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। नरेन्द्र कोहली महाकाव्य की कथा को वर्तमान से जोड़कर उसमें एक नया रंग भरते नजर आते हैं और मिथक उनके उपन्यासों को विशिष्टता प्रदान करते हैं। कोहलीजी की किस्सागो शैली और कलात्मक प्रस्तुति के कारण ही सामान्य पाठक भी भारतीय दर्शन की जटिल संकल्पनाओं को मिथकीय आख्यानों के माध्यम से सरलता से समझ जाता है। इसी मिथकीयता और वर्तमान बोध के कारण ही उनके महाकाव्यात्मक उपन्यास अन्य उपन्यासों की तुलना में श्रेष्ठ ही नहीं, बल्कि अपना एक अलग स्थान भी रखते हैं।

संदर्भ-

1. नरेन्द्र कोहली, विकिपीडिया
2. साहित्य कुंज, ब्लॉग
3. अभ्युदय, नरेन्द्र कोहली
4. वसुदेव, नरेन्द्र कोहली
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ नगेन्द्र
6. आलोचना, सहस्राब्दी अंक उनतीस

❑❑❑

शोध छात्र (हिन्दी), मगध विश्वविद्यालय।

डॉ. नरेन्द्र कोहली को 'दो कमरे का मन' की प्रति
भेंट करते हुए डॉ. कलानाथ मिश्र

RNI No. BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906

चर्चित कथा संग्रह

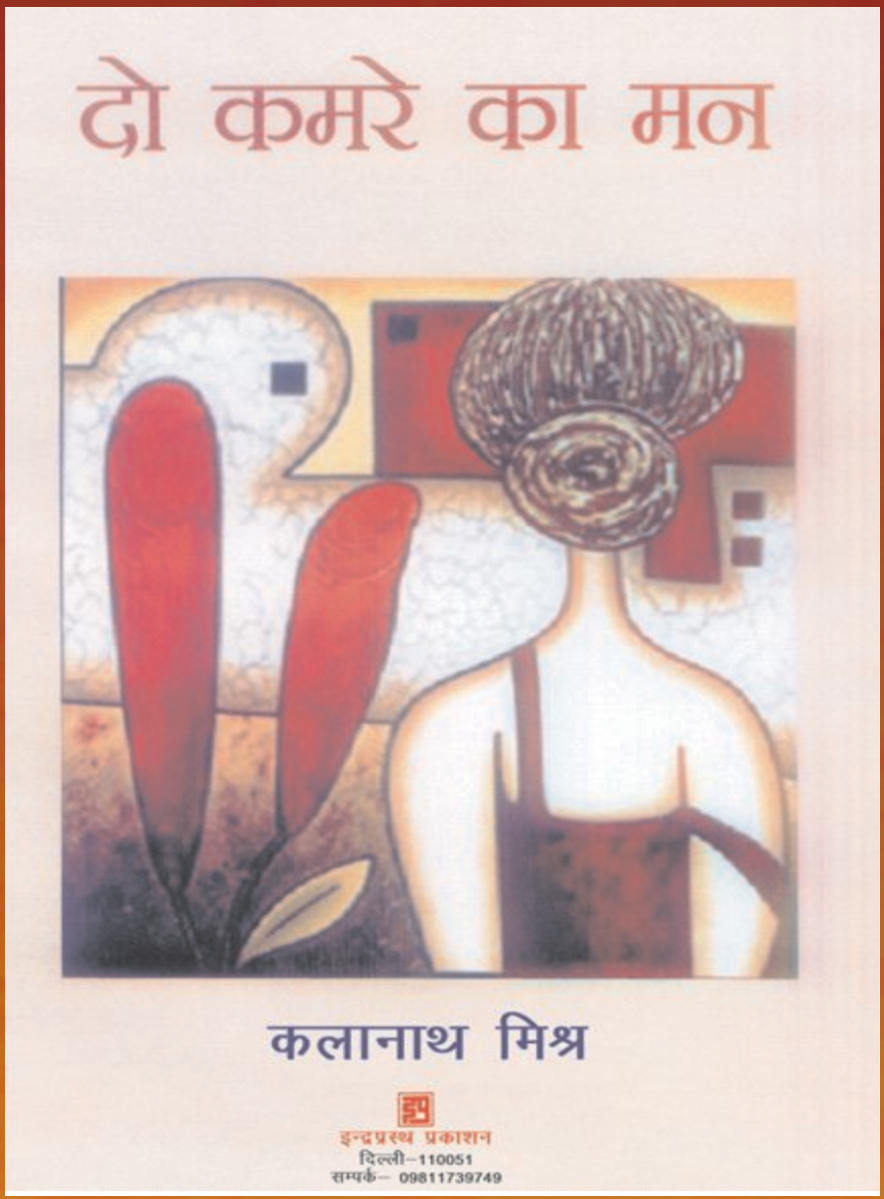

'दो कमरे का मन' की कहानियों में कहानीकार ने आज की उपभोक्तावादी और बाजारवादी विसंगतियों का पुरअसर उद्घाटन किया है। अच्छी बात यह है कि कथाकार ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा है सब कुछ कहानी को कहने दिया है और पाठक पर छोड़ दिया है कि वह अभिप्रेत अर्थ के साथ हो लें। कहानीकार में मनुष्यता की पहचान करने वाला 'विजन' आद्यंत व्याप्त हैं।